महाभारत का अर्थ



वाग्देवी प्रकाशन
बीकानेर

बहिष्कार का अर्थ

डी. डी. हर्ष



वाग्देवी प्रकाशन
सुगन निवास चन्दन सागर
बीकानेर 334 001

प्रथम संस्करण 1989

मूल्य सत्तर रुपये मात्र

आवरण अमित भारती

मुद्रक सांखला प्रिंटर्स
सुगन निवास चन्दन सागर
बीकानेर 334 001

ISBN 81 85127 23-9

Mahabharata ka Artha
by D D Harsha
Rs 70 00

महाभारत मानव की जययात्रा

मानव के स्वभाव मे विजय एव विभूति प्राप्ति की आकाक्षा है। सामान्य व्यक्ति बिना साधना सस्कारो के इनका परित्याग नही कर सकता। वैसे भी अभ्युदय एव नि श्रेयस का सदेश देने वाली सस्कृति के उपासक को अभ्युदय से घृणा करने की आवश्यकता नही है। महाभारत जैसा पावन ग्रथ इन्ही दोनो तत्वो की मानव सुलभ व्याख्या विश्लेषण का अनुपम महाकाव्य है। महाभारत को न जानने पर भारत को जाना नही जा सकता, यह विद्वानो की मान्यता नितान्त सत्य है। जीवन के प्रत्येक प्रवाह और दिक्काल को उचित मार्गदर्शन इस महाग्रथ से प्राप्त होता है। मानवीय दुर्बलताओ के उभार से पतन एव उन पर सयम के अकुश प्रयोग से उत्थान की गाथाओ का इस ग्रथ मे बारम्बार वर्णन किया गया है।

आज के युग में महाभारत की विशालकायता से भयभीत व्यक्तियो की सख्या का बहुमत बढता जा रहा है। सयम, साधना, नीति, तपश्चर्या, ज्ञान, व्यवहार शुद्धि एव भक्ति का यह पावन ग्रथ अपनी ही धरती पर यदि अपेक्षित आदर न पा सके तो समाज का प्रेरणास्रोत ही सूख जायेगा। जीवन मूल्यो के प्रति आदर पर्याप्त घटा है, फिर तो और भी घट जायेगा।

महाभारत के सिद्धान्तो और कथानको को नये परिप्रेक्ष्य में व्याख्यायित करने की महती आवश्यकता थी जिसे विद्वान लेखक प्रो डॉ डी हर्ष जी ने कुशलतापूर्वक सम्पन्न किया है। उनके विचार मानव की जययात्रा के रूप मे प्रगट हो रहे हैं। इनका मननपूर्वक अध्ययन मानव की जययात्रा को मानव की अभययात्रा का रूप देने मे समर्थ है। लेखक विद्वान के साथ साथ यदि

साधक और तपस्वी हो तो शब्दो मे गरिमा एव तेजस्विता की प्रभा दर्शित होती है। यह आनद की बात है कि प्रो हर्ष एक उच्चकोटि के साधक हैं।

'महाभारत का सार' की भाषा प्रासादिक है। गाथा केवल गाथा नही है, उस के अन्तराल से सिद्धात झाक रहा है। सिद्धात का पदे पदे परिदर्शन कराने वाला यह ग्रथ साहित्य की एक धरोहर के रूप मे स्वीकृत होगा, ऐसा मेरा विश्वास है। जययात्रा के प्रसग दिग्भ्रमित समाज को अतीत का पुण्य स्मरण कराते हुए नूतन दिव्यालोक को सुखानुभूति कराने म समर्थ हो, ऐसी सर्वसमर्थ परमेश्वर से अभ्यर्थना है।

भारत माता मदिर
हरिद्वार

स्वामी सत्यमित्रानन्द गिरी
निवृत्त जगद्गुरु शकराचार्य ज्योतिमठ शाखा

अनुक्रम

'न हि मानुषात् श्रेष्ठतर हि किञ्चित्'

मानव का स्वरूप

सार्वकालिक महाकाव्य अमर और आलोकप्रद काव्यकृति

पराशर नन्दन महर्षि वेदव्यास द्वारा विरचित 'महाभारत' एक सार्वकालिक महाकाव्य है जिसमे मानव हृदगुहा मे सन्निविष्ट असीम और अचिन्त्य शक्ति के नानाविध विकास का साहित्य सागर वत् लहराता है। सार्वकालिक से अभिप्राय उसकी सनातन सप्रेषणीलता और निरन्तर प्रासगिकता से है।

मानव मेधा जनित शायद ही ऐसी कोई कलाकृति होगी जिसका प्रभाव मानव के पार्थिव और पारमार्थिक जीवन एव साहित्य पर इतना व्यापक, गहरा और दीर्घकालीन रहा है जितना कि महाभारत का। इसमे मानव मात्र को नूतन आलोक देने की सामर्थ्य आज भी उर्वर है। मूलत इसीलिये महाभारत आज तक एक अमर एव आलोकप्रद काव्यकृति के रूप मे समादृत रहा है और सदा स्वीकार्य रहेगा।

सस्कृत साहित्य मे ही नही अपितु विश्व वाङ्मय मे भी महाभारत का सर्वथा अनूठा और अनुपमेय स्थान रहा है। मानव सृजनात्मकता ने इस काव्य को इतने चाव से सवारा है कि यह कला प्रसाद युग युगान्तर की प्रतिभाओ को निरन्तर नूतन नूतन प्रेरणाओ और चिन्तनानुभूतियो से प्रभावित, प्राणवन्त और रसान्वित करने वाला अक्षय स्रोत सिद्ध हुआ है। प्रतिभा-सम्पन्न रसिको के लिए ही नही वरन् जन-साधारण के लिए भी महाभारत मानव निर्माणकारी एव चरित्रोद्धारी ऐसे एसे आख्यानमूलक और सर्वजन साध्य प्रेरक आदर्श प्रस्तुत करता है जिन्हे हृदयङ्गम करके मानव नयी सूझ सम्पन्नता और साहसिकता से अपने आपको समृद्ध करके अपने स्वय के और परिवार, समाज तथा राष्ट्र के जीवन को विकासोन्मुखी पूर्णता के अनन्त पथ पर सोत्साह आगे चलाने मे उद्यमशील एव सहायक हो सकता है। साथ ही, कालचक्र की अनुकूलता और प्रतिकूलता से अप्रभावित एव अविचलित रह कर वह अपने जीवन जगत् मे जय यात्रा का मार्थक एव सफल सम्पादन कर

सकता है।

मानव की जय यात्रा एवं भारत की आत्मा की
अखिल छवि का अद्भुत ग्रंथ राज।

इसी उद्देश्य से भले ही इस महाकाव्य की रचना न की गई हो, परंतु इसका प्रेरक और प्रकाश प्रद प्रभाव देश, काल और परिस्थितियों की सीमाओं को चीरता हुआ आज भी प्रवाहमान है। यह अपराजय भाव ही, महाभारत में मानव की जय यात्रा का महामंत्र प्रतीत होता है।

कौरव पाण्डव युद्ध की समाप्ति के पश्चात् जब समूचा भारत—विशेष कर पूर्व में मनीपुर से लेकर पश्चिम में द्वारका तक—घोर विनाश और विध्वंस की भयावह चीत्कार भूमि बन चुका था तथा जनचेतना कुरुक्षेत्र युद्ध की प्रलयकारी भीषणता की स्मृति मात्र से आतंकित और व्यथित हो उठी थी, तब महर्षि व्यास ने पूर्णरूपेण समाहित मन, ध्यानालोकित निर्मल बुद्धि और स्वस्थ सर्जनशीलता से, अतुल मानवीय महिमा से सम्पन्न, इस 'महाभारत' नाम वाले एकलक्ष श्लोकों के अद्भुत ग्रंथराज की कलात्मक सृष्टि की। इस भीषण भ्रातृ संग्राम के पूर्वकाल से लेकर उसके अंतिम क्षण तक, और तदुपरांत भी, पराशरात्मज व्यास इस युद्ध के साक्षी मात्र ही न थे, किंतु उन्होंने युद्ध को न होने देने हेतु परामर्श पूर्वक भरसक किंतु असफल प्रयत्न भी किया था। इतना ही नहीं, जब अश्वत्थामा और अर्जुन ने सब विनाशकारी ब्रह्मास्त्रों का प्रयोग किया था, तब शीघ्र ही व्यास ने अपने महनीय ब्रह्मतेज से वैयक्तिक बीच बचाव कर उस भैरवीय परिणाम का निवारण किया था। युद्ध जन्य भयंकर ताण्डव के वे साक्षी थे, उनके अनुसार युद्ध के अंत समय में कुल मिलाकर, दोनों पक्षों के, 11 वीर ही जीवित बचे थे। इस अपार धन और जन की अत्यंत असहनीय एवं हृदय विदारक क्षति से उत्पन्न अपार ग्लानि से जन जन का चिद्गगन जब मूक और मुखरित करुण हाहाकार और पराजयवाद से आक्रांत था तब तपोनिधि महामानव वेदव्यास ने धवला सरिता सरस्वती की सन्निधि में पूर्णमनोयोग की प्रज्ञा पीठ पर आरूढ़ होकर जिस साहित्योदधि का सृजन किया, वह 'महाभारत' मात्र एक महाकाव्य या ग्रंथ रत्न ही नहीं है। यह एक युगांतकारी और अभिनव युग का श्री गणेश करने वाला आत्म-साक्षात्कारी सनातन साहित्य है जो मानव को गौरवमय, स्वाभिमानी और स्वतंत्र जीवन जीने की प्रेरणा देता है जो मानव जीवन में उच्चतम और मूल्यवान आदर्शों की दार्शनिक धरातल पर साहित्यिक प्रतिष्ठा करता है, और जो मानव मात्र को अपराजयवाद की धुन पर अदम्य पुरुषार्थ का दिव्य संगीत सुना कर उसे नारायणत्व की सोऽहम और सृष्टा अभिव्यक्ति का मानवोचित

सन्देश देता है। निस्सन्देह, महाभारत में भारतीय आत्मा की अखिल छवि का अद्भुत दर्शन सुलभ है।

महाभारत एक अद्भुत ग्रन्थ है—कैसे?

ज्ञानगंगा के जटाधर वेदव्यास का यह विराट काव्य, जो मानव के नानाविध निकृष्टतम से श्रेष्ठतम रूपों की विशद और विश्लेषणात्मक, पूर्ण और प्रभावकारी छवि प्रस्तुत करता है, मात्र इसलिए अद्भुत नहीं है कि भारतीय प्रज्ञा, संस्कृत साहित्य और विश्व वाङ्मय की सबसे बड़ी रचना है, जो जन-चेतना में 'शत साहस्र संहिता' के नाम से प्रतिष्ठित है, मात्र इसलिए भी नहीं कि पार्वतीनन्दन गणेश जैसे लेखक होते हुए भी वेद व्यास को 'महाभारत' के सृजन में पूरे तीन वर्ष का लम्बा समय लग गया, इसलिए भी नहीं कि प्रसिद्ध इतिहासज्ञ रमेशचन्द्र दत्त ने इसे एशिया की कल्पनाशील सृजनात्मकता की महानतम कृति कहा है, मुख्यतया इसलिए भी नहीं कि हमारे मनीषियों ने महाभारत को इतिहास, धर्म, ज्ञान, विज्ञान, साहित्य, संस्कृति, कला, राजनीति, रणव्यूह रचना, सामरिक विधान, दौत्य नीति, दर्शन, अध्यात्म आदि अनन्त एवं जीवनोपयोगी विविध विषयों का रत्नोदधि एवं विश्वकोश कहा है, मात्र इसलिए भी नहीं कि देशी और विदेशी विद्वद्जनों द्वारा नानाविध आलोडित एवं आलोचित महाभारत एक बहुचर्चित ग्रन्थ है, परन्तु मूलतया इसलिए कि महाभारत एक ऐसा सार्वकालिक और सार्वभौम महाकाव्य है जो जीवन के सभी रूपों की पवित्रता का सांगोपांग प्रतिपादन करने के साथ-साथ एक विशेष दृष्टि से मानव जीवन की श्रेष्ठतमता और पवित्रता का उच्चतम दार्शनिक घोष एवं साहित्यिक उद्घाटन करता है। कला की यह महान् कृति इसलिए भी अद्भुत है कि मानवीय विषयों की विविधता, आकार की विशालता, प्रतिपादन की आद्यन्त अन्विति एवं रसमयता, दर्शन की रोचक समग्रता एवं गम्भीरता, शैली की प्राञ्जलता एवं साहित्यिक प्रसादमयता, भावों की अभिव्यक्ति की सम्पूर्णता, भव्य कलामयता आदि की समन्वित कसौटी पर इससे स्पर्धा करने वाली एवं तुलनीय अन्य कोई कलाकृति नहीं है, अद्भुत इसलिए भी कि यह काव्य सभी रसों की पृष्ठभूमि में नानाविध शैलियों में मानव की इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति की नित्य नयी क्रीडा का दार्शनिक धरातल पर विश्लेषणात्मक-विधि एवं समन्वयात्मक दृष्टि से इतना विपुल साहित्य प्रस्तुत करता है कि हम इसे मानव विकास तथा मानव विनाश के क्रमिक सोपानों का सिद्धान्त व दृष्टान्त सागर कह सकते हैं। वस्तुतः महाभारत मानव स्वरूप एवं मानव प्रकृति से प्रसूत वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के महातिमहत् चिन्तनकणों

एव उत्तमोत्तम चारित्रिक लक्षणो मे लेकर क्षुद्रातिक्षुद्र भाव, सकीर्ण मनोवृत्तिया एव स्वार्थपरता की पराकाष्ठा का समग्रतया सूक्ष्म एव स्पष्ट चित्रण करने वाला विश्वसाहित्य का प्रथम और एकाकी महाकाव्य है। अद्भुत इसलिए भी कि मानव जीवन के सब-स्तरीय सरल से सरल तथा गभीर मे गभीर मानस वाले एव विचारशील व्यक्तियो का, कलामर्मज्ञो एव साहित्य-सर्जको नित्यनूतन प्रेरणा देने वाले गहन मानवीय एव सनातन तत्वो से ओतप्रोत होने के कारण 'महाभारत' परवर्ती भारतीय वाङ्मय की नाना विधाओ के अक्षय स्रोत की गरिमा से गौरवान्वित होकर आज भी भारत के अन्त करण पर छाया हुआ है। इस इस कारण से भी अद्भुत कहा जा सकता है कि यह भारतीय सांस्कृतिक परम्परा के उच्चतम आदर्शो का रत्नाकर है तथा इसमे चित्रित एव विश्लेषित तेजस्वी पात्र यहाँ के जनसमुदाय के लिए प्रेरक, पथ प्रदर्शक एव अनुकरणीय नायक मान्य हुए हैं।

दो मुख्य एव मननीय बिन्दु और हैं जिनके कारण महाभारत का अद्भुत ग्रन्थ कहा जा सकता है। प्रथम तो यह कि महाभारत एक अपूर्व और अनुपम काव्यकृति है, ऐसी कृति जो भारतीय साहित्य मे न तो वेदव्यास के पूर्व काल मे कभी सृष्ट हुई, और, न ही व्यासोत्तर काल मे इस की जोड का कोई साहित्यिक सर्जन हुआ है। वस्तुत महाभारत सस्कृत वाङ्मय की एक निपट नूतन विधा का महाकाव्य है जो श्रुति परम्परा म सर्वथा विरत होते हुए भी श्रुतिसार को आत्मसात् किये हुए है। यह उत्तर वैदिककालीन प्रारम्भिक ब्राह्मण कट्टरता के विरुद्ध मानव धर्म का क्रान्तिकारी जयघोष है, परम्परा की वह कट्टरता जो बहु सख्यक शूद्रो और स्त्रियो को वेदाध्ययन का अधिकार प्रदान नही करती। उन लाखो-करोडो नर नारियो के लिए, जो अनुदारवादी वेदपथियो की अवज्ञा के शिकार थे, महाभारत नया वेद बनकर आया। यह स्मृतिशास्त्रो की परम्परा का शुभारम्भ था। क्या कर फिर ऐसे क्रान्त द्रष्टा की अभिनव युग निर्माणकारी कृति को अद्भुत न कहा जाय ? दूसरा मननीय बिन्दु यह है कि महाभारत के भीष्मपर्व मे पाण्डवशिरोमणि अर्जुन के प्रति श्रीकृष्ण ने जो समाधान गीत गाया वह विश्व साहित्य मे ब्रह्मविद्या का सर्वोत्तम रथोपदेश—सर्मन ऑन द चेरियट—है, जो कुरुक्षेत्र के समराङ्गण म मनस्तापग्रस्त एव भ्रान्तिजन्य तनावग्रसित अर्जुन को दिया गया था, और जो 'श्री मद्भगवद्गीता' के नाम से जगद्विख्यात है। कतिपय पाश्चात्य विद्वानो का यह मत है कि श्री मद्भगवद्गीता क्षेपक है प्रक्षिप्त है, इसे महाभारत का अभिन्न और सहज अश नही माना जा सकता। कुछ भारतीय विद्वान भी इस पाश्चात्य मत का समर्थन करते हैं। जिन्हे अतीन्द्रिय एव अवाङ्मनसगोचर

अध्यात्मदर्शन, या जो गुह्यतम साधना द्वारा अनुभव गम्य हैं, निश्चिन्त मात्र भी बोध है, वे गीता को महाभारत की प्राणेश्वरी घोषित करते है क्योंकि ब्रह्मविदा की दृष्टि म महाभारत मूलत गीता ने गायक का गौरव गान ह। निस्सन्देह श्री मद्भगवद्गीता का महाभारत मे वही स्थान है जो मस्तिष्क और हृदय का मानवदेह म है। गीता जीवन के परमसत्य और उन शाश्वत मूल्यों का सिद्धान्तत प्रतिपादन करती ह जिन्ह समूचा महाभारत विविध आख्याना उपाख्यानो तथा ऐतिहासिक घटनाओं एव दृष्टान्तो के साहित्यिक चरित्राङ्कन द्वारा सशक्त अभिव्यक्ति प्रदान करता है। अत गीता को यदि महाभारत से निकाल दें तो महाभारत निष्प्राण एव निरर्थक काव्य मात्र से अधिक कुछ नही रहता। उस स्थिति म वह शताब्दियो पूर्व काल की आलोचनाग्नि म कभी दग्ध हो गया होता। गीता क्षेपक नही, महाभारत की आत्म सञ्जीवनी है अनन्य और अविभाज्य।

प्रसगवश यह निवेदन किया जा सकता ह कि इस कथन के सत्य का दर्शन हम भारत म ब्रिटिश साम्राज्य के द्वितीय गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्ज के उस वचन से भी होता ह जिसम उन्होने हीरे मोतियो से जडित 'महाभारत' रूपी मञ्जूषा म स्थित 'कोहिनूर' रूपा गीता' को ब्रिटिश साम्राज्य से भी अधिक मूल्यवान ठहराया। सर चार्ल्स विल्किन्स द्वारा भगवद्गीता के अग्रेजी मे अनुवाद के 'इन्ट्रोडक्शन' मे वारेन हेस्टिंग्ज ने इन प्रसिद्ध एव भविष्य बोधक शब्दो मे लिखा 'जब ब्रिटिश साम्राज्य विस्मृति की थाह मे गुम हो जायेगा, जब इसकी सम्पदा और समृद्धि के स्रोतो का स्मरण तक नही रहेगा, तब भी यह धर्मग्रन्थ और इसम लिखित उपदेश ससार के लाखो करोडो मनुष्यो को प्रेरणा प्रदान करते रहगे।' यह मानव मात्र के व्यक्तित्व का स्वरूप निर्देशन कराने वाला काव्य दर्पण ह।

वस्तुत ज्ञानगगा के भगीरथ पराशरात्मज वेदव्यास द्वारा प्रणीत 'महाभारत' भारतीय ऋतम्भरा प्रज्ञा का सार्वकालिक ग्रन्थ सम्राट है जो मानव मात्र को, अपने व्यक्तित्व एव राष्ट्र क सम्यक् तथा सर्वाङ्गीण विकास हेतु नित्य नयी प्रेरणा, उमग और दृष्टि प्रदान करने की सामर्थ्य से ओतप्रोत ह। यह मानव मात्र का सौभाग्य है कि अतीत की भाँति आज भी 'महाभारत' के महापुरुषो, आदर्श चरित्रो, दिव्यात्माओ एव सदृष्टान्त सिद्धान्तो की अमर कथाएँ व चर्चाएँ घर घर म बडी उत्सुकता, प्रेम व जिज्ञासा के साथ कही व सुनी जाती ह। पर कथन श्रवण के साथ सर्वाधिक आवश्यकता इस बात की है कि इस तेजोमय कलाकृति की प्रेरणाओ को सही अर्थ मे आत्मसात् करके पूर्णमनोयोग स मानव अनुसन्धान मूलक, ऊर्जा और सृजनात्मक

उपयोग कर। इसी में, याग दृष्टि में, भारतीय प्रकृति की उपासना, आध्यात्मिकता की सिद्धि तथा भारतीय राष्ट्र के अभ्युदय का रहस्य गुम्फित है। वैयक्तिक स्तर पर यही उपासना व सिद्धि मानव मात्र के जीवन में, 'सत्यमेव जयते नानृतम्' के सत्य से उज्ज्वलित और समन्वित, वास्तविक जय यात्रा की प्रेरक पथ प्रदर्शिका बन सकती है। इसलिए तो स्वयं वेदव्यास ने महाभारत को 'भारत का इतिहास कहा' जिसमें सत्यमनस्त्व जन्य मानवीय न्याय, स्वातन्त्र्याश्रित जीवन और नर में नारायणत्व के अभ्युदय की मानवात्मा विरोधी अन्याय पूर्ण, स्वातन्त्र्य हनी असहिष्णुता और नर में नरकत्व की बलिवेदी पर मानवता को स्वाहा करने वाली शक्तियों पर अंतिम विजय की गाथा का प्रेरक यशोगान है।

सतां नयमुरीरयत महाभारत का मंगलाचरण

जीवन में जयाकांक्षा किसे नहीं होती ? पराजय किसे अभीप्सित ? प्राणीमात्र में पराजय का भाव हीनता और रोषमय मूक विद्रोह को उत्पन्न करने वाला होता है, और जय की स्थिति में उसी स्वाभिमान एवं श्रेष्ठता के सुखबोध की तुष्टानुभूति होती है। मानव जीवन की जयाजय की द्विविध स्थिति में गौरव ग्लानि की द्वन्द्वावस्था में से गुजरता है, ऐसा सामान्य अनुभव प्रायः सभी का है। मनुष्य की विलक्षणता इसमें है कि वह जीवन में आने वाली चुनौतियों का समयोचित धैर्य व साहस, अडिग आस्था और आत्म विश्वास की सनातन सामर्थ्य से सामना करे। विजय की मुकुट मणि ऐसे ही उद्यमशील मनुष्यों के हाथ में काल स्वयं लाकर रख देता है। इस पुरुषार्थवाहिनी लक्ष्य परायणता एवं उद्यमशीलता में ही अपराजेयता का भाव पद्म खिलता है जो मानव के जीवन को मुदित और सुरभित किये बिना नहीं रहता। इस पद्म में सृजन की संजीवनी है, पूर्णत्व की परमता है, प्रेम की प्रवाहमयी पावनता है। मानव जीवन में इस पुण्डरीक के सम्यक् प्रस्फुटन विकसन हेतु महर्षि व्यास ने हमें मंगलाचरण के रूप में एक शास्त्र सम्मत, सुज्ञजन सेवित, ऋषिजन पोषित एवं स्वानुभव से पुष्ट और प्रमाणित महामन्त्रमय श्लोक दिया है जिसके सत्यार्थ की परमानुभूति मानव मात्र के लिए कल्याणार्थ अपेक्षित है।

मंगलाचरण के इस पुण्य श्लोक को व्यास जी ने महाभारत के प्रत्येक पर्व के आरम्भ में रखा है। व्यास जी ने ऐसा क्यों किया, मानव की यह जिज्ञासा नितान्त स्वाभाविक ही है। हरेक पर्व का एक ही मंगलाचरण है, अक्षरशः वही। तनिक मात्र भी कहीं अन्तर नहीं! सम्भवतः वेदव्यास को यह अभिप्रेत था कि महाभारत का पारायण करते समय इस मन्त्र का बार-

बार मगल गान न केवल इस 'महाभारत' के शुभारम म ही किया जाय अपितु महाभारत के प्रत्यक पव के पूव भी इसी मगलाचरण का गान एव श्रवण, श्रद्धायुक्त आदर-बुद्धि एव आत्मिक प्रेम भाव से, वेद मत्रो की तरह पावन लहरी मे किया जाय क्योकि इस महामन्त्र मे ही महाभारत के सत्याथ का उद्घाटन करने की सारभूता शक्ति कुण्डलित है। सतही स्तर पर तो यह श्लोक एव पच नमस्कारमय आदेश मात्र ह, परन्तु इसके गभ मे मानव जीवन की नियति (मोक्ष) एव पूर्णावस्था का सुदर निरूपण है। तदनन्तर मानव-स्वरूप का निधारण है, मनोजयी उत्तमता की स्थापना ह, जीवन साधना का क्रम वर्णित है, लक्ष्य सिद्धि एव साधक का ममबोध इगित है। ऐसे महत्त्वपूर्ण श्लोक का पठन श्रवण करने के साथ साथ तदन्तगत अथ को हृदयङ्गम करके ही महाभारत का स्वाध्याय, पारायणादि करना श्रेयस्कर है। अत यह अत्यन्त उपादेय है कि हम 'महाभारत' नामक विराट काव्यकलाकृति मे उपलक्षित मानव की जय यात्रा के स्वरूपानुसधान म इस महिमामय मगलाचरण के सम्यक् गान के साथ ही प्रवेश करें। व्यास दृष्टि मे जय यात्रा मोक्ष यात्रा का पर्याय हैं।

नारायण नमस्कृत्य नरचैव नरोत्तमम् ।
देवी सरस्वती व्यास ततो जयमुदीरयेत् ॥

इस मगलाचरण म नारायण, नर, नरोत्तम, वाग्देवी सरस्वती और महर्षि वेदव्यास को नमस्कार करके (नमस्कृत्य) 'जय' याने महाभारत को 'उदीरयेत्' पढें, ऐसा आदेश है। यह मगलाचरण का सरलार्थ है, एकदम साफ ! परन्तु शोध बुद्धि वाले जिज्ञासुओ और किञ्चित् गहरी अनुसधानात्मक दृष्टि वाले विद्वद्जनो को सीधे साधे शब्दार्थ मात्र से सन्तोष नही होता, वे श्लोक के मम का साक्षात्कार चाहते है। अत वे अपने आपको प्रश्न करते हैं और गहन मौन की चरमावस्था मे वे मगलाचरण के सत्याथ का दशन कर लेते ह। प्रश्न हैं यह 'नारायण' कौन है जिन्हे प्रथम नमस्कार करना चाहिए? नमस्कार क्या किया जाये? इसी प्रकार, ये 'नर' और 'नरोत्तम' कौन ह और इन्हे नमस्कार करने का क्या प्रयोजन है तथा प्रणाम किस भाव के साथ किया जाये? 'देवी सरस्वती' को नमस्कार करने की मन्त्रणा का क्या रहस्य है? सर्वाधिक विचित्र बात तो यह है कि इस श्लोक मे 'व्यास' को भी नमस्करणीय माना है क्या यह उचित ह कि महाभारत के रचयिता वेदव्यास अपने महाकाव्य के मगलाचरण म स्वय अपने को नमस्कार करने हेतु भावी वाचकवृन्द को आदेश प्रदान करें? व्यास कहे कि व्यास को नमस्कार करो ! स्वय को नमस्कार कराने की बात मे क्या

युक्तिमयता है ? इस सम्बन्ध में, यह सन्देह कि मंगलाचरण क्षेपक है कुछेक जिज्ञासा को रुचिकर और प्रासंगिक लगता होगा। इन प्रश्नों के सम्बन्ध में टीकाकारों का मत वैविध्य मननीय है।

गीता प्रेस, गोरखपुर द्वारा छः महाकाय खण्डों में प्रकाशित, हिन्दी अनुवाद सहित जो 'महाभारत' आज उपलब्ध है, उसमें मंगलाचरण सम्बन्धी अर्थ और विचार से यह प्रकट होता है कि 'नारायण' और 'नर' भारतीय अध्यात्म चिन्तन में 'नित्य सत्ता' के रूप में मान्य हैं, वे प्राचीन काल में बदरिकाश्रमवासी प्रसिद्ध श्रीनारायण और श्रीनर थे और द्वापर काल में वे ऋषि ही श्रीकृष्ण और अर्जुन के रूप में अवतरित हुए, अखिल 'महाभारत' इन दोनों मानव शिरोमणि तेजोमय सत्यकाम नायकों की आत्मजयी प्रतिष्ठा का काव्य गान है। नारायण जीवन का अन्तिम लक्ष्य है, नर इस लक्ष्य सिद्धि की साधना का आदि बिन्दु। श्रीकृष्ण नारायण नर रूप में हैं जो मानव जीवन की श्रेष्ठतम स्थिति एवं परमपूर्णता का सिद्ध स्वरूप है, वह मानव मात्र के प्रति निःस्वार्थ मैत्री और करुणा का जीवन्त आदर्श है, वह सब को अपनी ही आत्मा में और अपने को प्राणी मात्र की आत्मा मानने और जानने वाला समदर्शी योगेश्वर है, परात्पर ब्रह्म है सदैव ही यह सर्वान्तर्यामी रूप से सब के हृदयों में विराजमान है। श्रीकृष्ण मानव रूप में सर्वजयी है जय स्वरूप है, जय की प्रतिष्ठा है। अर्जुन नारायण का नित्य सखा 'नर' रूप है जिसमें नारायणत्व के सम्यक् प्रकटीकरण की पूर्ण क्षमता है, इस प्रकटीकरण में नारायण (समत्व बोध) का सतत सान्निध्य, सादृश्य और सायुज्य अपेक्षित है और सच्चे अर्थों में 'नर' वही है जो इस सायुज्य हेतु सश्रद्ध, संयमी और उद्यमशील होने के लिए कटिबद्ध हो जाये, अर्जुन, महाभारत में, ऐसा ही नर है। अतः वह मानव मात्र का पौरुषमय प्रतिनिधित्व करने की योग्यता से सम्पन्न एक धीर वीर नर है। वह उस साधना दर्शन का ज्वलन्त उदाहरण है जिसका प्रतिपादन समय समय पर हमारे ऋषिजनों सिद्ध आचार्यों एवं गुरुजनों ने किया है तथा जिसका सर्वोपरि लक्ष्य मानव जीवन का चतुर्दिक अभ्युदय एवं मानव व्यक्तित्व में पूर्णता के प्रकाश का प्रकटीकरण सर्वजन-हिताय करना होता है। सम्भवतः इसी दृष्टि से महर्षि व्यास ने नारायण को पूर्ण पुरुषोत्तम के रूप में तथा नर को पूर्णता के सश्रद्ध पथिक के रूप में नमन करने को कहा है। इन दोनों को नमस्कार करने के साथ साथ 'नरोत्तम' को भी नमस्कार करने के लिए व्यासजी ने स्पष्ट कहा है। यह नरोत्तम कौन है ? नरोत्तम वह नर है जो शास्त्र और गुरु द्वारा उपदिष्ट और स्वानुभव द्वारा पुष्ट साधना के माध्यम से जीवन में निरन्तर उन गुणों, भावों और श्रेष्ठ

आचार विचारों का आपादन अर्जन करने में निरत रहता है जिससे अधमत्व का विनाश और उत्तमता का विकास सतत होता रहे। वह साधना दशा को अपने जीवन का वास्तविक अंग बना लेता है जिससे वह समस्त मानवीय गुणों का तेजोमय और क्रियाशील पुंज बन जाता है। आत्मीयता उसके व्यावहारिक जीवन में यथेष्ठ मर्यादा और माधुर्य का संचरण करती हुई उसे नरों में उत्तम 'नरोत्तम' के स्वयंभू परन्तु अनुद्घोषित पद पर प्रतिष्ठित कर देती है। नरोत्तम मानवीय जीवन की उस अध्यात्म भूमि में उन्नत हो जाता है। जहाँ उसका व्यक्तित्व नारायण की चिन्मय अखण्डता में समरस हो जाने की स्थिति में प्रवेश पा जाता है। जीवन में रूप्य नाना रूपों और नामों से उत्पन्न भेद बुद्धि इतनी शिथिल और क्षीण हो जाती है कि 'नरोत्तम' व्यष्टि के सारे भेदों और पृथक्ताओं से परे समष्टिरूपा सृष्टि के साथ अपना सम्यक् तादात्म्य स्थापित कर लेता है। जब नर का व्यष्टि भाव, साधना के सातत्य से, सृष्टि के समष्टि स्वरूप में विगलित और घुलमिल जाता है, तब वह नर ही नरोत्तम हो जाता है। व्यष्टि समष्टि का समुच्चय रूप नरोत्तम अब नर और नारायण के बीच की दूरी को, जो अभी तक भेद-भ्रमावस्था के कारण दिखाई दे रही थी, पाटने में समर्थ हो जाता है। नर में नारायणत्व के प्रकटीकरण की सर्वोच्च भूमि नरोत्तम भाव का मानवीय जीवन है।

भारतीय अध्यात्म साधना का सार सर्वस्व यही है कि 'प्राक् शरीर विमोक्षणात्' शरीर के छूटने से पहले ही नर में नारायणत्व प्रकट हो जाये, क्योंकि मूलतः नर नारायण का शाश्वत अंश है, नर ही नारायण है—'जीवो ब्रह्मैव द्वितीयो नास्ति'। नरोत्तम, नर और नारायण के मध्य सेतुबंध है जिसकी निर्मिति निर्मल मानवीय और आत्मीय जीवन द्वारा ही सम्भव है। भीष्म पितामह और धर्मराज युधिष्ठिर महाभारत के नरोत्तम हैं। अतः नारायण को नमस्कार है क्योंकि वह परम पुरुष परात्पर ब्रह्म मानव मात्र का साध्य है, नर को इसलिए नमस्कार है कि वह साध्य सिद्धि हेतु कटिबद्ध साधक एवं व्रत संकल्प है। नरोत्तम निस्संदेह नमस्करणीय है क्योंकि वह मानवोचित नारायणत्व प्राप्ति की साधना-की-पूर्णता का जीता जागता उदाहरण है। अतः नारायण नर में है जैसे वृक्ष बीज में, नरोत्तम नर का नारायण में उत्थान है जैसे बीज का वृक्ष में विकसन। इस प्रक्रिया में जैसे बीज के फटने पर ही वृक्ष का उगना और बढ़ना सम्भव है, वैसे ही नर को अहंकार व अज्ञान-जन्य व्यष्टि रूप व्यक्तित्व की परिच्छिन्नताओं के टूटने-बिखर जाने पर ही नारायणत्व अर्थात् व्यष्टि समष्टि से परे पूर्ण अपरिच्छिन्न स्व स्वरूप का उसे सम्यग् बोध होता है, परिच्छिन्नता के विगलन की सर्वोच्च

निमल भूमिका का नाम ही नर म नरोत्तम है। भारत, नारायण, नर और नरोत्तम एक हो अखण्ड चिन्मय तत्त्व के त्रिरूप हैं। यह वेदान्त की ऋषिप्रणीत भूमावस्था है जहाँ साध्य साधक और साधना एकरूप हो जाते हैं। यह मानव जीवन की परिपूर्णता है। इसे नमस्कार है। प्रत्येक मनुष्य का यह वाञ्छनीय दायित्व है कि वह यह नमस्कार करे, जिसका अर्थ नारायण द्वारा नर को किये गये आह्वान मे है—बीज की तरह पृथ्वी माँ की प्राकृत गोद म खप कर नर निरहंकारत्व की निर्द्वन्द्व और निर्मलावस्था प्राप्ति की आराधना द्वारा नारायण के आह्वान की यज्ञाग्नि म अपने स्वत्व की आहुति देकर नारायण बन जाता है।

व्यास प्रणीत इस मगलाचरण मे, नमस्कार करने के आदर्श की ओट म, मानव जीवन की नियति का, मानव के सही स्वरूप का, स्वरूप सिद्धि के माग म आने वाले सघर्षों एव कटकाकीर्ण अवरोधो का और उन पर विजय प्राप्त कर लेने वाले नरोत्तम का छायादर्शन हमे स्पष्टतया होता है। यह दशन हम तभी हो सकता है जब व्यास की दृष्टि हमे मिल जाये। व्यास की दृष्टि हम तभी प्राप्त हो सकती है जब हम 'सजय' बन कर उनके समक्ष विनत हो। सजय के अन्त करण मे अगाध श्रद्धा, सयम और तत्परायणता का निवास है। श्रद्धा सयम समन्वित सजय भाव के मानव हृदय मे अकुरन अभ्युदय होने पर व्यास दृष्टि का उन्मीलन मानव जीवन मे हो जाता है। व्यास गुरु हैं, कवि हैं, वर कवि हैं। अत व्यास को नमस्कार करना परम कवि तथा ब्रह्मविद् गुरु का नमस्कार करना हो है। गुरु वह है जो 'गु' अर्थात् गुप्त 'रु' अर्थात् रूप का प्रकट कर दे। नारायण नर मे गुप्त निवास कर रहा है, व्यास गुरु उस गुप्त रूप को नर के निमल नेत्र मे प्रकट कर देन की सामर्थ्य से विभूषित है। नमस्कार से व्यास का प्रसन्न करने का भाव इस मगलाचरण मे अभिप्रेत है। व्यास भी परिपूर्ण महामानव होने से, नारायण ही है। 'जीवो ब्रह्मैव द्वितीयो नास्ति' की चिन्मय अद्वय अवस्था म विराजित होकर स्वय व्यास व्यास को नमस्कार करने के लिए कह रहे है। यह तो अद्वैत की भाषा का सौन्दय है जो व्यास की काव्य गरिमा को प्रकट करता है।

काव्य गरिमा, काव्य सत्य, और काव्य सौन्दय मानव हृदय मे स्थित नित्य 'शुद्ध बुद्ध मुक्त 'अहम्' का ही काव्य रूप म प्रकटीकरण है। यह प्रकटीकरण स्वय होता है मानव के स्व स्वरूप बोध की रसमयता मे। 'रसो वै स', नारायण ही रस रूप है, रस सागर है, रस सार है। यह रस आत्म रस है जो स्वत स्व-सृष्ट ध्वनि लय से सगर्भित वाक निझर म प्रसवित और प्रवाहित होता है। यही वाक् प्रवाह सरस्वती है जो रस-सर का शब्द मूर्ति प्रदान करके

उस जगत मे प्रकाशित करती है, और इसीलिए 'देवी' की सज्ञा से अभिहित की जाती है। दिव्, दिवाकर, दिवस आदि शब्द प्रकाश-वाचक शब्द है। अत व्यास रूपी गुरु द्वारा उत्प्रेरित और उपदिष्ट होकर नरोत्तम की साधना से नर जब नारायण रूप हो जाता है तब वह रसराज स्वय भगवती श्रुति अर्थात् सरस्वती बन कर काव्य रूप ग्रहण करता है। महाभारत मूलत रसराज नारायण के महारास का लीला काव्य है।

अत देवी सरस्वती को नमस्कार करना भगवती श्रुति यानी वेद का नमस्कार करना है, सर्वथा समीचीन है। इस पच नमस्कार के प्रसाद रूप से महाभारत (जय) म नर का आत्मप्रवेश सुगम हो जाता है। इस से नर-हृदय म नारायण के प्रति श्रद्धा के जागरण का साहित्यिक आह्वान मुखरित होता है। और महाकाव्य के गूढ अर्थ व प्रयोजन मे नर मति सहज गति कर सकती है। अन्यथा, जैसा कि 'महाभारत तात्पर्य निर्णय' के प्रणेता महान् मध्वाचार्य आनन्दतीर्थ ने लिखा है, वह प्रत्येक व्यक्ति पर लागू होता है। वे अपने इस ग्रन्थ म कहते हैं कि

एवमध्यात्मनिष्ठ हि भारत सर्वमुच्यते।
दुर्विज्ञेयमत सर्वं भारत तु सुरैरपि॥
2 149 म ता नि

महाभारत का सब लोग अध्यात्मनिष्ठ ग्रन्थ मानते हैं जो तदर्थ ही देवताओं के लिए भी 'दुर्विज्ञेय' है। अत महाभारत के पारायण करने से पूर्व इन पाँचों को—नारायण, नर, नरोत्तम, सरस्वती देवी और वेद व्यास को—प्रेमादर भाव से नमस्कार कर लेना चाहिए। यह है व्यास दृष्टि। इसका फल है जय (मोक्ष) प्राप्ति, पराजय का अर्थ है बार बार जन्म की प्राप्ति।

वस्तुत रास रासेश्वररसोदधि नारायण ही महाभारत रूपी वाङ्मय मन्दिर की चिन्मय मूर्ति है जिसकी प्राण प्रतिष्ठा स्वय कृष्णद्वैपायन व्यास ने आत्मसिद्धि के महामन्त्र से की है।

सदानन्द यति ने 'महाभारत तात्पर्य प्रकाश' नामक अपनी टीका मे महाभारत को 'जय' नामक विद्या या समस्त अविद्याओं के नाशक ससार-जयी ग्रन्थ कहा है—'ससार जयित ग्रन्थ जयनाम'। महाभारत मे जो कुछ है, घटित और वर्णित रूप मे, वेदव्यास उस सब के न केवल द्रष्टा मात्र रहे हैं परन्तु वे उसके साथ शुरू से आखिर तक जुडे हुए भी रहे हैं। कौरवाधीश धृतराष्ट्र के प्रधान सचिव सजय व्यास के पट्ट शिष्य हैं जिन्हे वह अतिमानवीय दृष्टि प्राप्त है जिससे वे सब देख, सुन, कह सकते है। व्यास वस्तुत दोनो पक्षो के अधिकारियो के लिए सम्माननीय एव मान्य है, दोनो पक्षो से इनका घना

सम्न्य है - परामर्श दाता और आ.जय के रूप म। इसलिए उन्हे महाकाव्य म वर्णित छोटे से छोटे और बड़े स बड़े पात्र का अन्तरतम मे देखने, परखन व समझने का पूरा अवसर मिला है। कमाल तो यह ह कि महाकाव्य के अनेक पात्रा का चित्रण उन्होन जिस पटुता और कौशल से किया है उससे व्यासजी मानवता के श्रेष्ठ उन्नायक, मनुष्यमन की समस्त विधाओ के पारखू आर महान् मनोविद् तथा मानव की गौरव गरिमा के क्रान्तिकारी प्रतिष्ठापक के रूप मे प्रकट होते ह।

व्यास न मानव को सर्वश्रेष्ठ प्राणी घोषित किया है उनकी यह मान्यता है कि मानव नराधम बन कर समाज और स्वय के जीवन को दु खाक्रान्त, तनावग्रस्त और नरकतुल्य बना सकता है तथा नरोत्तम बनकर समाज, सस्कृति और स्वय के जीवन को सत्यनिष्ठ, स्वाभिमानी और सुखमय बना सकता ह। इतना ही नहा, वह मानवेन्द्र और महामानव बन सकता है 'सर्वजनहिताय सर्वजनसुखाय च' अत महाभारत मानवीया नियति की विषमता की चिन्ता करने वाला महत्त्व का काव्य है, जो मानव जीवन की परिपूर्णता हेतु विरचित है। यही 'जय' का मूल अभिप्राय है।

व्यास दृष्टि म मानव का स्वरूप

महर्षि व्यास का यह लोक प्रसिद्ध और विद्वद्जन चर्चित वाक्य ह कि 'मनुष्य से श्रेष्ठतर आर अन्य कोइ नही है, यह मैं एक गुह्य सत्य कह रहा हू'—

गुह्य ब्रह्म तदिद ब्रवीमि
नहि मानुषात् श्रेष्ठतर हि किञ्चित्।
शान्ति पर्व 180/12

यह एक गुह्य सत्य ह—'गुह्य ब्रह्म इदम्'। 'तद् ब्रवीमि' उसे म कहता हूँ, प्रकट करता हू। 'नहि मानुषात् श्रेष्ठतर'—मनुष्य स श्रेष्ठतर नही ह 'किञ्चिद् हि', कुछ भी।

बडे महत्व और मजे की घोषणा ह यह क्याकि ऊपर से जितनी सरल लगती है, यह अन्दर स उतनी ही गुह्य और गुह्यतर होती चली जाती है। 'गुह्य' मे 'गुह्यतम' उसी तरह छुपा हुआ ह जैसे नर म नारायण, प्रथम दो शब्दो के अर्थ के बीच की अनुसन्धानमूलक कडी गुह्यतर है, जो दोनो को जोडकर एक करती हुई खुद भी उसमे समरस होती हुई गुह्यम् की वृहद् अस्मिता में उसी तरह अभिन्नतया लुप्त या विस्तृत हो जाती है जसे नरोत्तम की साधना साधक 'नर' और साध्य 'नारायण' की एकरूपता को व्यक्त करते-करते स्वय नारायण की अव्यय अखण्ड चिन्मयता म समा जाती ह।

मनुष्य मे जीवन के परम सत्य को प्रकट करने की अद्भुत सामर्थ्य है जो मानवेतर प्राणियो व पदार्थों मे नही है। अत मनुष्य 'श्रेष्ठतर' है। श्रेष्ठ तो चराचर जगत् मे सभी हैं। जीवन की पवित्रता की दृष्टि से वनस्पति जगत् के सभी वृक्ष, पौधे, लता, पत्ता आदि असख्य जीवधारी उतने ही श्रेष्ठ हैं जितने पशु पक्षी जगत् के नानाविध रूप रग वाले खग और धरती पर और जल मे निवास करने वाले निष्पद, द्विपद, चतुष्पद, बहुपद वाले जानवर। जीवन का समान आदर होना चाहिए, परन्तु चेतना की दृष्टि से मानव जीवन 'श्रेष्ठतर' है क्योकि वह 'श्रेष्ठतम' जीवन और 'श्रेष्ठ' जीवन के बीच की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कडी है। अनन्त सम्भावनाओ से परिपूर्ण, 'सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म' के साक्षात्कार का देहली द्वार! प्रकृति के सुरम्य, बहुरगी विशाल साम्राज्य मे मनुष्य सबसे विरला प्राणी है। चाहे स्थावर जगत् का सर्वोत्तम, तुषाराद्रि हिमालय ही क्यो न हो, मनुष्य के सामने उसका सौन्दर्य फीका लगता है, मनुष्य की सृजनशीलता का गौरव सर्वाधिक अनोखा और अतुलनीय है। विश्व के सम्मोहक वनस्पती साम्राज्य के उद्यान तरु भी, चाहे वे बडे से बडे वट विटप ही क्यो न हो, मनुष्य की उत्तरोत्तर विकासोन्मुखी चेतना के समक्ष मन्द वैभव के ही प्रतीत होते हैं। भीमकाय चट्टानें और फलप्रद गगनोन्मुखी वृक्ष मात्र ही क्या, पशु पक्षी जगत् के विरले से विरले जन्तु जानवर भी, चेतना के विकास की अचिन्त्य सम्भावनाओ की तुलना मे, मनुष्य से बहुत पीछे हैं। तत्वहीन और अभागा है वह मनुष्य जो इन निस्सीम सम्भावनाओ का पुंज होते हुए भी अपने गौरव को बिना पहिचाने और प्रकट किये मर जाता है।

एतद्दृष्ट्या, मनुष्य सृष्टि का सिरमौड है, श्रेष्ठ सार है, क्षीर-दधि की प्रक्रिया म से मन्थनान्तर निकला हुआ शुद्ध नवनीत है। वेदवाणी मनुष्य को अमृत की सन्तान घोषित करती है— 'मानवा अमृतस्य पुत्रा'। अमृत कहाँ है? सत्य मे। सत्य कहाँ है? ऋत मे। इस सत्य का सम्यक् बोध व अनुभव मानव देह मे ही सम्भव है, अन्य किन्ही देहधारियो मे नही। यदि मनुष्य स्वदेह मे—ऋत मे अर्थात् पचभूतात्मक और त्रिगुणात्ममय नरपिण्ड मे निवमित गुणातीत आत्मा का दर्शन करने के दायित्व को निभा लेता है तो वह व्यास के साथ, स्वानुभव से व्यास के इस कथन का उत्साही समर्थन कर सकता है कि—

> अमृत चैव मृत्युश्च द्वय देहे प्रतिष्ठितम् ।
> मृत्युरापद्यते मोहात् सत्यनापद्यतेऽमृतम् ॥
> शान्ति पर्व 278 79

मृत्यु भी इस देह में है, और अमृत भी ! सत्य की यही सही पहिचान है। अमृत और मृत्यु दोना इस नर देह में प्रतिष्ठित है, मोह नरो से मृत्यु प्राप्त होती है और सत्य से अमृत की उपलब्धि ! अत सत्य जब मानव चेतना में रमण करने लगता है, उसमे समा जाता है और मनुष्य का चिन्तन और चरित्र जब सत्य के प्रकटन का उज्ज्वल माध्यम बन जाता है, तब मानव को अमृत तत्व की प्राप्ति होती है। आत्मचेतना के पूर्ण विकास की सम्भावना और क्षमता मनुष्य मे ही है, मनुष्येतर जीवधारियों मे नही। इस विकास पथ का निर्माण मनुष्य का धरमदायित्व है।

मानव की चेतना शक्ति के विकास के तीन प्रमुख रूप हैं—ब्राह्मी, वैष्णवी और रौद्री। ब्राह्मी रूप में चेतना का अभ्युदय नित्य नयी सरचना लेकर आता है, ज्ञान विज्ञान, कला सस्कृति, धर्म-दर्शन आदि अमरय क्षेत्र हैं जिसमे निरन्तर नूतनता का प्राकट्य इस चेतना के विकास क्रम में होता रहता है। व्यास प्रणीत सम्पूर्ण साहित्य इसी चेतना के अभ्युत्थान की मौलिक देन है। यह सृजनशीलता केवल मानवीय चेतना का दायित्वपूर्ण एकाधिकार है, मानवेतर उप चेतनाओ का नही। तात्पर्य यह नही है कि प्रत्येक मानव सृजनशील होता है और उसका जीवन रचनात्मक कृतियो का सतत प्रवाह। प्रयोजन मात्र इतना ही है कि रचनात्मकता की अनन्त सम्भावनाओं का आगार है मानव, क्योकि उसे नारायण रूप मे व्यक्त और विकसित होने की चैतन्य शक्ति का बीज जन्म से ही प्राप्त है। और उसका विकसन की खोज का दायित्व है। सृजन शक्ति के पूर्ण विकास की सम्भावनाओ के साथ मनुष्य म मानव द्वारा सृष्ट कृतियो के रक्षण और पालण की शक्ति भी प्राप्त है, लगन प्रेम और धैर्य के द्वारा मानव चेतना वैष्णवी शक्ति के रूप मे अभिव्यञ्जित होकर युगबोध की पीठिका म सृष्ट सृजनशीलता के लिए महान्कवच का काय करती है। इस सजन और सरक्षण की प्रक्रिया मे तत् विरोधी तथा प्रतिगामी शक्ति तत्वो के समयोचित सहार की रौद्री शक्ति भी मानव चेतना के अभ्युदय के क्रम म सहजतया प्रकट होती है। सग, स्थिति और सहार की अद्भुत सामर्थ्य मनुष्य मात्र म है, अपेक्षा केवल कालोचित विकास और उसकी अभिव्यक्ति की है।

मानवीय चेतना के विकास की अनन्त सम्भावनाओ के रूप तो तीन ही प्रमुख हैं परन्तु इसके विकास की प्रक्रिया को मनुष्य किसी भी दिशा मे ले जा सकता है यह चाहे तो विकास का अमृत माग अपना सकता है, और चाहे तो मृत्यु माग का अनुसरण कर सकता है। कारण यह कि दोनो—मृत्यु और अमृत—मानव देह मे विराजमान हैं और मानव इन दोनो मे से किसी भी माग

को अपनाने मे पूर्णतया स्वतन्त्र है। नर का नारायणत्व मे विकसित होना ही अपने मे निहित अमृतत्व की प्राप्ति है नर।

इस सम्बन्ध मे व्यास के जीवन की एक छोटी सी घटना ध्यातव्य है। एक बार महर्षि अपने अन्तेवासिन् समुदाय के साथ अपने आश्रम की समीप स्थली मे घूम रहे थे। सहसा उन्होने देखा कि एक अत्यन्त लघुकाय कीडा भूतल पर ठीक उनकी चरणस्थली मे आ गया। महर्षिराज के बढते हुए पदा की दृष्टि से भयभीत वह कीट कम्पायमान हो उठा और जीवन रक्षा हेतु दौडने का प्रयास करने लगा। वह शीघ्र ही दूर हट गया। यह सब कुछ देखकर महर्षि व्यास ने अपने सगियो को कहा—'समस्त प्राणधारियो मे जीवन के प्रति प्रेम कितना नैसर्गिक है। इस छोटे और महत्त्वहीन कीडे को देखो! यह भी अपनी अस्मिता को कितना महत्त्व देता है और अपने को जिन्दा रहने योग्य समझता है।' यह कहते हुए व्यास कुछ झुके और रेंगते हुए महत्त्वहीन कीडे को एकटक देखने लगे। उनके दृष्टिपात से कीडे की हृन्नाडियो मे स्पन्दन हुआ, वे कुछ खुलीं और व्यास के हृदय का स्पन्द कीट हृदय मे प्रविष्ट हुआ और वे एक दूसरे से सवाद करने लगे। यह सवाद कैसा हो गया, एक रहस्य है, पर ऐसा हुआ यह असदिग्ध है। किसी भद्र नर से मिलो तो तुम्हारे अन्तमन की बातें सुझाव रूप मे उसमे प्रविष्ठ और प्रकाशित होती रहेगी, और तुम्हें लगेगा माना तुम्हारे विचार उसके मानस म प्रवेश कर रहे हैं, नेत्र नेत्रो से बोलते है, ठीक उसी प्रकार जसे नन्हे मुन्हे किशोर और पशु पक्षियो में परस्पर सम्वाद होता है। हृदय अपनी अभिलाषाओ को हृदय तक पहुँचा ही देता है। यद्यपि सब मनुष्यो म यह योग्यता विकसित हुई नही दिखाई देती, पर इतना कथन अवश्य सत्य है कि यह ज्ञान भी अन्य अनेक सिद्ध ज्ञानो की तरह सुनिश्चित है।

व्यास ने कुछ झुक कर उस कीडे से कहा, 'अरे, नन्हे कीडे! क्या बात है कि तुम भी अपने जीवन-रक्षा की इतनी परवाह करते हो? तुम अभी मेरे पाँव तले दब कर मर जाते, परन्तु अपनी प्राण रक्षा हेतु तुम भागे और तुमने अपने आपको झट से मेरे पाव के तले के नीचे आने से बचा लिया। मानव प्राणियो की तरह तुममे भी क्या प्रेम और घृणा, सुख और दु ख, अनुकूलता-चरण और प्रतिकूलता निवारण के भाव होते है? क्या सारा जीवन इस द्वन्द्व की मझधार मे ही प्रवाहमान है?' कीडे ने आत्म भाषा म महर्षि को प्रत्युत्तर मे कहा, 'भो महर्षे! आपकी दृष्टि में मैं बिल्कुल छोटा और नगण्य अवश्य हूँ, परन्तु मैं जानता हूँ कि आप कौन हैं? आप पुरातन मन्त्रद्रष्टा महर्षियो की दिव्य मन्त्रराशि को एकत्रित और सुव्यवस्थित करने वाले,

तथा, ब्रह्मविद्या में विद्वत्तापूर्ण दिग्गज काव्यों और पुराणों को प्रकट करने वाले महान् आत्मवेत्ता हैं। आप वेदव्यास हैं, पर यह आश्चर्य की बात है कि आप जैसा प्रज्ञापूर्ण मानव शिरोमणि एक अल्पकाय कीट के जीवन पर एक आन-सा प्रहार करे! जीवन सबका है, इस से पूज्य कुछ भी नहीं! इस के समान पवित्र और कुछ भी नहीं। जीवन हर आकृति में पावन और सम्माननीय है।'

कीट की यह निर्भीक, संयत और सत्यवाणी महर्षि व्यास के चिद् गगन में आश्चर्यान्वित कर देने वाली भीषण विद्युत प्रहार की तरह कौंध गई, और उन्होंने सम्हल कर पूछा, 'आ, अद्भुत प्राणी! तुम कौन हो?'

कीट ने कहा, 'मैं भी आप की तरह एक ऋषि हूँ, और लोग मुझे नारद कहते हैं। मुझे 'प्रथम ऋषि' होने का सौभाग्य मिला है और विद्वद् सभा में मेरी प्रतिष्ठा है। यह सम्माननीय गौरव मुझे अधिकारगत सम्पदा के रूप में मिला है और मैं इसका योग्य पात्र व अधिकारी भी हूँ।'

व्यास ने पूछा, 'हे, श्रद्धेय मुने! यदि आप नारद हैं तो क्या कारण है कि आप कीड़े बन गए।'

देवर्षि नारद ने कहा, 'मेरे सिवाय और कौन कीड़ा बन सकता था। मनुष्य तो सर्वेसर्वा है। उत्थान और पतन तो उसी की गरिमा है। वह श्रेष्ठ और निकृष्ट आचार विचार की सामर्थ्य से विभूषित है, जब वह उच्च विचार का जीवन जीता है तो वह नरोत्तम प्राणी हो जाता है, पर जब वह अधम विचारों से आक्रान्त होकर निकृष्ट जीवन जीता है तब वह पतित कीट ही तो है। यदि वह विनयशील है तो उसे अभ्युदय और यदि वह गर्वीला है तो उसे अधोगति मिलती है। मनुष्य वैसा ही हो जाता है जैसा वह सोचता है। गर्व विनाश की प्राक्भूमिका है। मैं ही मेरा इतिहास हूँ। जैसा मैंने सोचा वैसा बन गया, और जैसा चिंतन करूँगा वैसी ही मेरी भवितव्यता बनेगी।'

एक बार मैंने विष्णु की उपस्थिति में, अपने आपको उनके प्रिय और पवित्र भक्तों में सर्वोत्तम भक्त घोषित किया। उनका क्रोध मुझ पर टूटा और मैं यह कीड़ा बन गया। मात्र प्रथम बार ही की मेरी यह अनुभूति नहीं है। बार बार मेरा उत्थान और पतन हुआ है।'

बीच ही में व्यास बोल पड़े, 'मैंने स्वप्न में भी नहीं सोचा कि आप श्रद्धेय ऋषिवर नारद हैं अन्यथा मैं इस अभद्रता से आपको सम्बोधित नहीं करता।'

नारद ने सानुनय कहा, 'न्यायोचित दण्ड ही था मेरे लिए आपका यह व्यवहार! जो व्यक्ति 'कुछ' बनता है तो उसे न कुछ बनना ही पड़ता है।

व्यास ने प्रेमपूर्ण आदर से कहा, 'क्या आप मुझे मेरी धृष्टता के लिए क्षमादान नहीं देंगे?'

नारद ने मानपूर्वक कहा, 'इसमें आपका कोई दोष नहीं, ज्ञान की कोई बात नहीं। जो बनता है वह बिगड़ता है। आत्मा तो अछूत है।'

ऋषि व्यास ने एक शंका प्रस्तुत की, 'आपका कथन [illegible] में अक्षरशः सत्य है। फिर भी आप से एक प्रश्न है। क्या एक पूर्ण मानव का पृथ्वी के रूप में अवतरण सम्भव है? और, क्या वह जन्म और मरण से विनिर्मुक्त नहीं होता? यदि हाँ, तो आप जैसे ब्रह्मविद् का जन्म मरण और पुनर्जन्म के कालचक्र में पुनः क्यों आना पड़ा?'

नारद ने स्पष्ट कहा, 'पूर्ण मानव परमात्मा ही है, वह नित्य [illegible] मुक्त है। अपूर्ण मानव ही अपने अहंकार जन्य अज्ञान से [illegible] रहता है।'

'यदि मैं पूर्ण होता, तो आप मुझे कीट योनि में इस प्रकार रेंगते हुए नहीं पाते। क्या यह स्पष्टीकरण संतोषप्रद नहीं है?'

स्वस्थ भाव में व्यासजी ने फिर प्रश्न किया, 'आपके वचन निस्संदेह स्पष्ट हैं, पर पूर्ण मानव के क्या लक्षण होते हैं?'

नारदजी ने कहा, 'अहंकार से सर्वथा विनिर्मुक्त पूर्णमानव में, 'मैं, मेरा, तेरा, उसका' नहीं होता। इन भावों में पाशविकता की झलक होती है, स्वार्थ और संकीर्णता की दुर्गन्ध आती है, यह अपूर्ण मानव की छवि है। अपने आपको अन्य पावन भक्तजनों की तुलना में श्रेष्ठतम और पृथक् घोषित करके विष्णु की विद्यमानता में मैंने मेरी अपूर्णावस्था का ही परिचय दिया था। तदर्थ ही मैं इस कीटयोनि में उनके द्वारा अभिशप्त होकर आ गिरा।'

'तो क्या इस स्थिति से बचाव सम्भव नहीं है?' व्यास ने पूछ ही लिया।

'है क्या नहीं! है। यदि आप देव से प्रार्थना करें तो मैं पूर्ववत् नारद बन सकता हूँ। आपकी कृपा से सब कुछ सम्भव है।' नारद के ये विनम्र वचन सुनते ही करुणा की मूर्त्ति व्यास ने परमात्मा से प्रार्थना की और कीट योनि से तत्काल मुक्त होकर नारद अपने स्व स्वरूप में प्रकट हो गये।

महर्षि व्यास और देवर्षि नारद परस्पर प्रगाढ प्रेम से गले लगे और मानव जीवन की पूर्णता और पावन गरिमा की छवि व्यास के अन्तेवासियों के मानस पर दिव्याङ्कित हो गई।

यह है मानव का सत्य स्वरूप, जो व्यास ने अपनी काव्यकृति में सोदाहरण प्रस्तुत किया है। मानव, असीम सम्भावनाओं का, नर देह में, पुञ्जीकृत रूप है जो कीट भी बन सकता है और कृष्ण भी। सम्भावनाओं को वास्तविकता में परिणित करने की सारी सामर्थ्य मनुष्य के कर कमलों और प्रज्ञा में प्रयोगार्थ सञ्चित है। अतः अपने हाथों और बुद्धि के समुचित विनियोग से मनुष्य अपने भाग्य का स्वयं निर्माण करता है। भाग्य की उज्ज्वलता और धूमिलता स्वयं मनुष्य के क्रिया-कलापों पर निर्भर करती है। सच्चे पुरुषार्थ से कृष्ण पद की प्राप्ति प्रत्येक नर के लिए सम्भव है, प्रमाद और मिथ्या अहंकार से मनुष्य कीटतुल्य भी बन सकता है। सारतः मनुष्य के कर्म का स्वरूप उसके भाग्य के स्वरूप का निर्णायक तत्त्व है।

मनुष्ययोनिमिच्छन्ति सर्वभूतानि सर्वदा।

180 0 शान्तिपर्व

वस्तुतः मनुष्य में वह सब कुछ है जो ब्रह्माण्ड में है। प्रकृति का चंचलत्व, आकाश का विस्तार, वायु का प्रवाह, अग्नि का तेज, जल का रस, पृथ्वी का

अचलत्व, पेडा की फलप्रदता पुष्पो की सौरभ, पक्षिया की उडान, पशुओ का पशुत्व, देवो की प्रकाशमयता एव प्रच्छन्नता, विषैले सर्पो बिच्छु आदि का जहर एव मारणशीलता, देहा की मरणशीलता, तत्त्व की अनश्वरता आदि अनेकानेक शक्तियो का बीजपुज है मानव। वह चाहे तो अपने मे मरण मारण शीलता के बीज का वृक्ष रूप मे अकुरन विकसन कर सकता है, वह चाहे तो देवो का ज्ञान, आत्मा की अमरता, पक्षिया की उडान एव पडो की फलप्रदता को अपने जीवन मे विकसित कर स्वय के और समाज के जीवन को उन्नत और समृद्ध कर सकता है। मानव मे सब विध बीज हैं। अपने व्यक्तित्व के विकास की दिशा व चरित्र के चयन मे वह स्वतन्त्र है। वह चाहे तो स्वार्थ सिद्धि एव दलगत उद्देश्या की पूर्ति का माग अपना सकता है, चाहे तो वह सवहितकारी स्व की सर्वोन्नति का पथिक भी बन सकता है। स्वार्थ के माग से सर्वार्थ का माग अधिक हितकारी व मगलमय है, प्रथम सकीणता का माग है और दूसरा उदारता का, विशालता का जिसकी परिणति सामान्य दृष्टि मे 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के आदश म होती है। मानव चौराहे पर खडा है। जैसे चयन वैसा चरित्र। जैसा कम वैसा फल।

'यथा कम तथा लाभ इति शास्त्रनिदशनम्

अर्थात् जैसा कम किया जाता है वैसा ही लाभ प्राप्त होता है, यही शास्त्रा का निचोड है। अत कमठता मनुष्य के उत्थान का सोपान है। कम से ही मानव जीवन म 'जय' यात्रा पूण होती है। 'कृत म दक्षिणे हस्ते, जयो मे सव्य आहित'—याने, मेरे दाहिने हाथ मे कम है, और बाएँ हाथ मे जय का निवास है। तात्पय यह है कि पुरुषाथ ही जय की अचना है, जय का परम पवित्र पाथेय है, मनुष्य के श्रेष्ठतर जीवन की जयमाल है। यह है पुरुषाथ के धरातल पर व्यास प्रणीत मानव की गौरव गरिमा का नये सिरे से पुनप्रतिपादन।

यह मानवीय जीवन मे स्वातन्त्र्य दशन का शाश्वत आधार है। मनुष्य कम करने म स्वतन्त्र है, और कम ही मानवता का उन्नायक तत्त्व है दायित्व भी। सोद्यमी मनुष्य का चिन्तन और चरित्र मानवीय गुणो का प्रतिनिधित्व करने वाला ही नही, अपितु प्रसवन करने वाला अविरल स्रोत भी बन जाता है। स्वाभिमान वर्द्धिनी होती हैं उसकी सब क्रियाएँ प्रक्रियाएँ, वह प्रतिष्ठा के माग से ही लाभाजन का प्रेमी और समथक होता है। अपने ही पुरुषाथ से हस्तगत जय व लाभ के उपभोग मे उसका जीवन मनुष्यत्व को सुशोभित करने वाला मान्य रहता है। यही मानवोचित स्वतन्त्रता और न्याय की सच्ची कसौटी है, यही राही मानवता है यही पुरुषाथ का प्राण स्पन्द है।

पुरुषार्थ से पराङ्मुख मनुष्य मानव कहलाने योग्य नहीं रहता है। जब तक मनुष्य इस जगत में जीवित है और उसके पास प्रकृति प्रदत्त दो खुले हाथ हैं, उसे पुरुषार्थ के मार्ग पर सविवेक चलना चाहिए। पुरुषार्थी मनुष्य के जीवन में सर्वतोमुखी अभ्युदय का द्वार स्वत उन्मुक्त हो जाता है, यद्यपि वह फलप्रदा सिद्धि का मुखापेक्षी या आकांक्षी नहीं रहता। लक्ष्य निर्धारण के बाद तन्मयता से, कार्यारूढ़ हो जाना ही पुरुषार्थ का स्वरूप है। पुरुषार्थी की ऐसी उद्यमशीलता ही वेदव्यास का पाणिवाद है। शान्तिपर्व में व्यास कहते हैं कि जगत् में जिनके पास दो हाथ हैं और जिनमें अपने इन हाथों से कर्म करने की रुचि, लगन, निष्ठा और उत्साह वृद्धि है उनके कार्यों में सिद्धि का प्रसाद मिलकर ही रहता है। व्यास का वचन है—

अहो सिद्धार्थता तेषां येषां सन्तीह पाणयः ।
अतीव स्पृहये तेषां एषां सन्तीह पाणयः ॥
शान्तिपर्व 180/11

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पुरुषार्थ से मानव जीवन में जय व सिद्धि का पथ प्रशस्त होता है और पुरुषार्थ करने में मनुष्य स्वतन्त्र है।

मनुष्य की स्वतन्त्रता मानव निर्मित संविधान या किसी क्रान्ति की देन नहीं है। यह तो नैसर्गिक प्रसाद है जिसके उपभोग का दायित्व एवं अधिकार मनुष्य को जन्म से ही प्राप्त है। अत इस अधिकार की यत्नपूर्वक रक्षा करना मानव का धर्म है, परमदायित्व है। चूंकि यह अधिकार मनुष्य मात्र को जन्म से ही प्राप्त है, अत स्वतन्त्रता मानव जीवन का एक ऐसा मूल्य है जिसकी पवित्रता प्रत्येक मानव को मान्य होनी चाहिए। जैसे दुर्योधन को अपनी स्वतन्त्रता प्रिय है वैसे ही अर्जुन और अन्य किसी मनुष्य को भी अपनी स्वतन्त्रता प्रिय है। इसलिए दुर्योधन को स्वतन्त्रता के उपभोग का उतना ही पावन अधिकार है जितना अर्जुन को। तदर्थ दुर्योधन पर, अर्जुन की तरह, अपनी स्वतन्त्रता के उपभोग से दोहरा दायित्व है स्वयं की स्वतन्त्रता के साथ साथ अर्जुन की स्वतन्त्रता की परिरक्षा करना। मानव मात्र का यह अधिकारगत दायित्व तथा दायित्वगत अधिकार है कि वह अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के साथ साथ अन्य मनुष्यों की स्वतन्त्रता की रक्षा हेतु तत्पर और सक्रिय रहे। स्वतन्त्रता का स्वरूप मात्र वैयक्तिक नहीं, वैश्विक है।

पारस्परिकता की भूमिका में सजग और क्रियाशील मनुष्य ही स्वतन्त्रता के मौलिक और नैसर्गिक मूल्य का महत्त्व जानता है। मनुष्य की श्रेष्ठतमता और गौरव गरिमा इसी में है कि वह स्वतन्त्रता के इस वैश्विक

स्वरूप का बोधयुक्त आदर करे। महर्षि व्यास के पुरुषार्थ समन्वित पाणिवाद के अभिनाग रूप में ही मानव स्वतन्त्रता के शाश्वत मूल्य की महिमा का मानवीय रूप विकसित होता है। मानव स्वातन्त्र्य की इस अभिव्यक्ति और अभिरक्षा म ही मनुष्य की अस्मिता का समादर है। जीवन के शाश्वत मूल्यों का आदर करना ही धर्म है। धर्म से मानव ही नहीं, अपितु जगत् और जीवन के सारे पदार्थ और प्राणी जब व्यक्ति द्वारा समाहृत और रक्षित होने लगते हैं, तो मनुष्य की स्वतन्त्र अस्मिता म से प्रेम और अहिंसा के मूल्यों का सहज प्रकटन होने लगता है। शाश्वत वही है जो सत्य है, सत्य काल से, अबाधित होता है, यह सदा से है। सत्य 'था' और 'होगा' की क्रिया म नहीं बंधता। यह निरन्तर है, उसके सनातन प्रवाह को जानने, उसम जीने वाला मनुष्य ही श्रेष्ठ है, काल से अकलंकित है, निर्मल है, मुक्त है। मुक्त मानव नर देह म नारायण है। यह स्वयं तो मुक्त है ही, वह उनको भी स्वतुल्य मुक्त होने की कला दे देता है जो उसकी सन्निधि मे समस्त अन्त मरण से शाश्वत जीवन जीने की निर्मल आकांक्षा से आ बैठता है। परन्तु ऐसे महत् जन अत्यन्त विरले होते है। कई जन तो अपने पाणिवाद का, अर्थात् मुक्त हस्तशक्ति का प्रयोग मात्र अपने स्वातन्त्र्योपभोग के लिए नही अपितु दूसरा को इसी स्वातन्त्र्य अधिकार से वञ्चित करने के लिए करते हैं। स्वयं स्वतन्त्र रह कर दूसरो को अपना दास बना देते हैं। इस तथ्य का उद्घाटन मनोविद् व्यास ने शान्तिपर्व के 'मोक्ष धर्म नामक' 180 वें अध्याय म बड़े कलात्मक ढंग से किया है—

पाणिमन्तो बलमन्तो धनवन्तो न संशयः ।
मनुष्या मानुषैरेव दासत्वमुपपादिताः ॥
180 31

अर्थात्, 'जिनके दोनों हाथ हैं, निस्स देह व ही बलवान और धनवान हैं। मनुष्यों को तो मनुष्यों ने ही दास बना रखा है।'

मनुष्य के हाथ म अपार बल और धन-सामर्थ्य का अविरल स्रोत है। परन्तु जब स्व बल और धनशक्ति रूपी स्वतन्त्र सत्ता का दुरुपयोग किया जाने लगता है, तो मनुष्य अपने ही समान मनुष्यों को, जो उनसे बल और धन में तुलनात्मकतया कमजोर होते है, अपने आतंक के प्रभाव से पराभूत कर देते है। मनुष्य मनुष्य द्वारा दास बना लिया जाता है। यह मानव समाज म मत्स्य न्याय का चलित रूप है, पशुत्व का परिचायक है, नराधमता का उदाहरण है।

स्पष्ट है, मानव के दो रूप हैं उत्तम और अधम। उत्तम रूप नारायणत्व का सोपान है और अधम रूप उसको नर पशु बना देता है। महाभारतकार

न मानव के इन दो रूपों को दो भिन्न मूल वाले जीवन तरुओं की उपमा देकर काव्यात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की है। नर के उत्तम रूप को वेदव्यास ने 'धर्मद्रुम' की प्रतीकात्मक भाषा से व्यक्त किया है और नर के अधम रूप को 'मन्युद्रुम' के प्रतीक से। धर्मद्रुम के सम्बन्ध में महर्षि व्यास का वचन है—

युधिष्ठिरो धर्ममयो महाद्रुम
स्कन्धोऽर्जुनो भीमसेनोऽस्य शाखा।
माद्रीसुतौ पुष्पफले समृद्धे
मूलं कृष्णो ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च॥
आदि पर्व 1।111

इस धर्ममय मानव महावृक्ष के मूल में अव्यय बीज रूप से स्वयं नारायण विराजमान हैं जो साक्षात् ब्रह्म हैं और जिनका साक्षात्कार ब्राह्मणों को होता है। ऐसे कृष्ण मूल वाले महाद्रुम की युधिष्ठिर की संज्ञा से प्रसिद्धि है, अर्जुन इस वृक्ष का तना (स्कन्ध) है और भीमसेन इसकी शाखाएं हैं, इस वृक्ष पर लगने वाले फल और फूल माद्रीसुत नकुल और सहदेव हैं। अन्य शब्दों में, परात्पर परब्रह्म के प्रति जिस मानव के अन्तस् में अक्षय प्रेम, सजग विश्वास तथा अगाध श्रद्धा है तथा ब्रह्मज्ञानियों और ब्रह्मरूप कृष्ण में, जो नर रूप में नारायण हैं उतनी ही गहन प्रेममय आस्था है वह धर्ममय महाद्रुम है। महाभारत में युधिष्ठिर इस धर्मतरु का साक्षात् स्वरूप है। वृक्ष के तने के रूप अर्जुन है। अर्जुन सरल, श्वेत और सीधे को कहते हैं। ऋजु भाव वाले अर्जुन का साहचर्य नित्य कृष्ण के साथ ही है। अर्जुन 'नर' है, और कृष्ण नारायण। नर नारायण का जोड़ा है। अव्यय बीज नारायण ही नर रूपी तने में विकसित हुआ है। अर्जुन कभी कृष्ण से भिन्न नहीं हो सकता। इस तन्मय रूपी अर्जुन स्कन्ध पर ही अतुल बलशाली शाखाएँ फैली हैं, जिन्हें व्यास ने भीमसेन की संज्ञा दी है। इस महाद्रुम पर जो पुष्प और फलों की समृद्धि हुई है उसे व्यास ने 'माद्रीसुतौ' नाम दिया है। अतः इस धर्मवृक्ष के पांचों पाण्डव ही अंग-प्रत्यंग बने हैं। बीज वृक्ष न्याय से कृष्ण ही पांचों पाण्डव समेत युधिष्ठिर नामक धर्ममय महावृक्ष बने हैं। यह सर्वविदित है कि बीज में वृक्ष सोया रहता है, परन्तु अनुकूल भूमि, पर्याप्त जल और सूर्यताप मिलने पर वह जागृत और विकसित हो जाता है। बीज ही वृक्ष बनता है। दोनों अद्वय हैं एक हैं। उसी प्रकार नर और नारायण एक हैं परन्तु उसकी प्रतीति की पूर्णता तभी होती है जब धर्ममय जीवन यापन की पराकाष्ठा में नर नरोत्तम से नारायण हो जाता है। नर में नारायण तत्त्व का साक्षात् दर्शन व प्रकटन ही मानव जीवन की तरुणाई है कृतकृत्यता है परिपूर्णता है। महाभारत में

वर्णित मनुष्य की जय यात्रा के प्रतार सार की विञ्चित झांकी इस बीज वृक्ष न्यायान्तगत विकसित धर्ममय महाद्रुम में अवलोकनीय है।

मानव जीवन में धर्ममय तरुवर का विकास इतना सहज नहीं है जितना सामान्यतया समझा जाता है। महात्मा गांधी का गुणगान करना उतना कठिन नहीं है जितना महात्मा का जीवन संघर्ष रहा था। सत्य और अहिंसा की दुहाई देने मात्र से, चाहे वह कितने ही सुन्दर और समीचीन शब्दों में समय समय पर दी गई हो, कोई व्यक्ति या संस्थान सत्यनिष्ठ और अहिंसाप्रिय नहीं हो जाता है। गांधी की तरह इन उन्नत जीवन मूल्यों की बलिवेदी पर खप जाना पड़ता है। स्व का सब भी बलिवेदी पर न्यौछावर करते करते उस स्वमय सब को भी 'तत' की परात्परता में होम देना पड़ता है। जिस नर का जीवन 'नरोत्तम' पथ की ओर तदनन्तर 'नारायण' पथ की पूर्णाहुति बन गया है, वही धर्ममय महावृक्ष का स्वानुभव से प्रामाणिक अवलोकन-आलोचन करने का सही अधिकारी है। उसी व्यक्ति की अभिव्यक्ति है 'महाभारत में वर्णित मनुष्य की जय यात्रा'। कौरव पाण्डवों का भयंकर विनाशकारी कुरुक्षेत्र का भीषण भ्रातृ महायुद्ध निस्सन्देह एक ऐतिहासिक घटना थी जिसकी काव्याभिव्यक्ति मात्र वेदव्यास का महत्त प्रयोजन नहीं हो सकता। प्रत्येक युग में, हर देश व समाज में, यहाँ तक कि प्रत्येक मनुष्य के जीवन में 'महाभारत' घटित हुआ है, होता है और होता रहेगा—इसी गंभीर मानवीय सत्य की सौन्दर्याभिव्यक्ति महर्षि व्यास ने अपने इस महाकाव्य में की है, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है।

सब मानव न सदा बुरे होते हैं, न सदा अच्छे। परन्तु कुछ मनुष्य ऐसे अवश्य होते हैं जिन्हें अच्छा कहा जा सकता है, जो वस्तुतः अच्छे ही होते हैं, कुछ ऐसे भी होते हैं जिन्हें बुरा कहे बिना रहा ही नहीं जा सकता क्योंकि उनके जीवन-चिन्तन और व्यवहार में अच्छाई की झलक भी नहीं दिखती, परन्तु वे संख्या में, सम्पत्ति में, शक्ति और सामर्थ्य आदि में इतने बली, कठोर और अमानवीय होते हैं कि उनके विरोध में अंगुली उठाना तो दूर, चर्चा भी करना आपत्ति और संकटों को स्व जीवन में निमन्त्रण देने के तुल्य होता है। ऐसे आततायी नृशंसवादी, अन्यायपूर्ण अन्य जनों के अधिकारों का अपहरण एवं हनन करने वाले व्यक्तियों का—चाहे वे कितने ही बली और अधिक क्यों न हों—सत्य और मानवीय न्याय के धरातल पर खड़े होकर—विरोध करने वाले लोगों के जीवन को व्यास ने 'युधिष्ठिरो धर्ममयो महाद्रुमः' की संज्ञा से अभिहित करके मनुष्य के एक श्रेष्ठ रूप का चित्रण किया, परन्तु उन आतंक और अन्याय, अनाचार और अमानवीय विचार एवं आचारों को

पुष्ट और व्यक्त करने वाले मनुष्यों को व्यास ने 'दुर्योधनो मन्युमयो महाद्रुम' के विशेषण से नामांकित एवं चित्रित किया है।

'मन्युमय महाद्रुम' मानव का अधम रूप है, जिसका महर्षि ने मनोवैज्ञानिक ढंग से काव्यशैली में प्रतीकबद्ध चित्रण किया है। वे कहते हैं—

दुर्योधनो मन्युमयो महाद्रुम
स्कन्ध कर्ण शकुनि तस्य शाखा।
दुःशासन पुष्पफले समृद्धे
मूल राजा धृतराष्ट्रोऽमनीषि॥
आदिपर्व 1.110

अर्थात्, दुर्योधन नामक मन्युमय महावृक्ष है जिसका तना कर्ण है, शकुनि शाखा है, दुःशासन उसका समृद्ध पुष्प फल है और अमनीषि (अविवेकी) राजा धृतराष्ट्र उसका मूल है, यानी जड़ है। 'मन्युमय महाद्रुम' वह है जिसमें दुर्योधन को मान्यता प्रदान करने वाली समस्त वृत्तियाँ विकसित होती हैं और पोषण प्राप्त करती हैं। काम, क्रोध, मद, मोह, मत्सर, द्वेष, मिथ्या अहंभाव आदि भावों का अविरल स्रोत है मन्युमय महाविटप। इस का मूल है अविवेक जिसका प्रतिनिधित्व महाभारत में राजा धृतराष्ट्र कर रहा है। अज्ञानमय बीज से निकसित और विकसित वृक्ष, क्रोधमय मनुष्य जीवन तरु ही हो सकता है—बीज वृक्ष न्याय से। बबूल का पेड़ लगाने पर बबूल ही तो बनेगा, जिसमें काँटे अधिक और छाया कम होगी। मन्युमय जीवन भी ऐसा ही होता है। इस पेड़ की संनिधि में समानधर्मी पेड़ों का ही बाहुल्य होगा। कर्ण ही ऐसे पेड़ का तना होता है, जो स्वयं की अस्मिता के रक्षणार्थ दुर्योधन की मन्युमयता का ही सहायक संग स्वीकारता है और अपनी असलीयत को पहचानने के बाद भी, कि वह सूर्यनन्दन कुन्ती सुत ही है, वह अविवेकजन्य दुर्योधन तरु का स्कन्ध ही बना रहता है, जन्य कृतज्ञता के भ्रम को लेकर। इस तने पर जो मद मात्सर्य का मन्युवृक्ष बढ़ा उसकी शाखाओं में शकुनि के छलछद्म का रस प्राधान्य रहा। इस वृक्ष पर लगने वाले फल फूलों की समृद्धि को व्यास ने 'दुःशासन' कहा है। अन्धे, अविवेकी धृतराष्ट्र रूपी बीज में से पनपने वाले वृक्ष की जीवनयात्रा दुःशासन रूपी जीवन पुष्प और फल के अभ्युदय में हुई। जिसके जीवन में अमनीषिपना का मूलमन्त्र हो अर्थात् अपने मन पर ईंगल न कर सकने की दुर्बलता का बीज हो, उसका जीवन कर्णावलम्बी याने परावलम्बी होकर शकुनि रूपी छलछद्म से अपने आपको बलवान समझता हुआ दुःशासन की भुजाओं की तरह थक कर गौरवहीन और हतभाग्य ही हो सकता है। यदि धृतराष्ट्र अपनी मनीषा

के सदुपयोग से दुर्योधनादि अपने पुत्रों में आसक्ति न रखकर सत्यावलम्बी धे
धृतराष्ट्र से दुर्योधन को स्ववशी बना रखता या उसके बचपन काल में ही विदुर के
परामर्श का आदर करके उसका सग त्याग कर देता, तो विषदान, लाक्षागृह
दाह, द्रौपदी चीर हरण आदि अमानुषीय और न्यायघाती दुष्कार्य दुर्योधन
सफलतया न कर पाता और कौरवों के कुल का नाश भी नहीं होता।
अविवेकी जीवन कालाभिमुख होकर विनष्ट हो जाता है और विवेकमार्गियों
की जीवन यात्रा को भी सकटापन्न और कष्टाकीर्ण बना देता है। यह दूसरी
बात है कि नारायण यात्रा के पथिक सजग और सावधान होकर अपनी
जीवन यात्रा में आने वाले विघ्नों का धैर्य और साहस के साथ उल्लंघन
करते हुए अपने लक्ष्य को पूरा कर ही लेते हैं। जयमाल उन्हीं के गले में पड़ती
है। महाभारतकार कहते हैं—

'यतो कृष्णस्ततो धर्म । यतो धर्मस्ततो जय ।'

पुरुषार्थकामी मनुष्य का जीवन तरु श्रीकृष्ण प्राप्ति के मूल सकल्प के
अव्यय बीज से बढ़ने वाला धर्ममय महावृक्ष होता है और पदार्थ और सत्ता-
कामी मनुष्य का जीवन तरु अमनीषा के अन्धबीज से बढ़ने वाला मन्युमय
महावृक्ष होता है। दोनों महाद्रुम हैं, छोटा कोई नहीं, परन्तु तनिक
तुलनात्मक चिंतन से स्पष्ट लगता है कि मन्युवृक्ष की जड़ कमजोर है और
धर्ममय वृक्ष की जड़ एकदम सुदृढ़ और परम्परा के जलामृत से निरन्तर
सिञ्चित रहती है। क्रोध स्थितिजन्य होता है और क्रोधाभिव्यक्ति विवेक के
लोपबिन्दु का प्रतीक है। क्रोध का मार्ग छलछिद्र का मार्ग है और जब तक
क्रोधी व्यक्ति की अभिलाषा पूर्ण नहीं होती, वह विवेक-साम्राज्य पर अचिन्त्य
चालाकी व षड्यन्त्रकारी मनोवृत्ति से प्रहार पर प्रहार किये जाता है। क्रोधी
की आक्रामकता धर्म के परिवेश को धारण कर के भी अभिव्यञ्जित होती है
और धर्म की ओट में भी। अतः दुर्योधन को व्यास ने 'मन्यु' वृक्ष में ही कहा है
'अधर्म' वृक्ष नहीं, क्योंकि सर्वथा धर्मविहीन कभी कोई मनुष्य नहीं होता।
डाकू भी पूजा करता है देवी जगदम्बा की और शाक्त भी कल्याणार्थ उसी
देवी को पूजता है। लक्ष्य भिन्नत्व से मनुष्य का व्यक्तित्व परस्पर विरोधी
गुणों वाला लगता है। दुर्योधन धर्म से अनभिज्ञ नहीं है, वह धर्म के मर्म को
जानता है पर उसके जीवन में धर्म की अभिव्यक्ति होती हुई दिखाई नहीं
पड़ती, वह अधर्म के स्वरूप से भी अनभिज्ञ नहीं है, पर उसके क्रिया कलापों
से, व्यक्त विचारों से अन्यायोचित और अधर्मजन्य व्यवहार ही की अभि-
व्यक्ति का अधिक परिचय मिलता है, न कि मानवीय प्रेम और बन्धुत्व का।
स्वयं दुर्योधन निस्संकोच कहता है—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति,
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्ति ।
केनापि देवेन हृदि स्थितेन
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥

अर्थात्, 'मैं धर्म को जानता हूँ, परन्तु मेरी गति और प्रवृत्ति धर्ममय जीवन में होती ही नहीं, मैं अधर्म को भी जानता हूँ परन्तु अधर्म से मेरा मन निवृत्त नहीं हो रहा है, छुटकारा नहीं पा रहा है। (मैं क्या करूँ!) कोई देव मेरे हृदय में बैठा हुआ है, वह जैसे मेरे मन को नियुक्त करता है, वैसा मैं करता हूँ।'

कैसी छलपूर्ण उक्ति है दुर्योधन की! जानते हुए भी वह धर्ममय व्यवहार नहीं कर सकता, उसके आचरण में अधर्म की प्रधानता है, परन्तु वह भी धर्मज्ञ की तरह वाणी का प्रयोग करता है कि कोई हृदयस्थ देव जैसे कराता है, वैसा उससे होता है। इसमें दुर्योधन का क्या दोष है! पत्ता भी तो नहीं हिलता परमेश्वर की इच्छा के बिना, उसकी क्या बिसात है कि वह स्ववश होकर कोई स्वतन्त्र कार्य कर सके। दोष देना है तो देव को दो, दुर्योधन को नहीं।

संक्षेप में एक निष्णात मनोविद् की तरह महर्षि व्यास ने मानव के रूपद्वय का समास शैली में सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है। सारी मानवता इन दो वृहद् रूपों में ही विभाज्य है: मनुजमय मनुष्य के अधम रूप में, और, धर्ममय मनुष्य के उत्तम रूप में।

मजे की बात है कि योरपीय नवोन्मेष की आधुनिक धारा में प्रवाहमान इंग्लैण्ड के तत्कालीन साहित्य सम्राट विलियम शेक्सपियर ने भी अपने विश्व विख्यात नाटकों में मानव के दो ही मूल रूप प्रस्तुत किये हैं: देवतुल्य मानव जो विकास की अनन्त क्षमताओं और सम्भावनाओं से परिपूर्ण संसार की सर्वोत्कृष्ट कृति है, और दूसरा वह गर्वीला मनुजमरा मानव जो अपने क्षुद्र स्वार्थों की सिद्धि हेतु एक 'कुपित कपि' की भाँति ऐसा पशुवत् व्यवहार कर गुजरता है जिससे मानवता कराह उठती है और सभ्य मानव जीवन के नैतिक मूल्यों एवं आदर्शों का शोषण आरम्भ होने लगता है। 'हेमलेट' नामक प्रसिद्ध नाट्यकृति में उन्होंने 'देवतुल्य' मानव का सूक्ष्म और सशक्त चित्रण किया है—

'कितनी उत्कृष्ट कृति है मानव! कितना
निर्मल विवेक है उसका! क्षमता में है कितना अनन्त!
कितना स्पष्ट और श्लाघ्य है वह आकार गुण और गति में!

जिता प्रसादमय देवदूत-तुल्य कम वाल मे ! ज्ञान मे
ठीक वैसा, जैसा है भगवान् !'

जितनी सुन्दर है मानव की अवधारणा जिसके श्रेष्ठ स्वरूप का मात्र काल्पनिक चित्र ही शेक्सपियर महोदय प्रस्तुत कर पाये है। तत्कालीन समाज मे सम्भवत ऐसा एक भी व्यक्ति नही था जो इस देवतुल्य मनुष्य का जीवन्त उदाहरण दे सके। ठीक भगवान जैसा व्यक्तित्व व्यास के महाभारत म श्रीकृष्ण और कृष्ण द्वैपायन का था। परन्तु 'कुपित कपि' के समान मनुष्य की निकृष्ट छवियो से तो शेक्सपियर का साहित्य भरा पड़ा है। मानव के अधम रूप का मनोवैज्ञानिक आलोचनात्मक विवरण उन्होने स्पष्ट रूप से 'मेजर फॉर मेजर' (Measure for Measure) नामक नाटक म इस प्रकार से दिया है—

'परन्तु मानव, गर्वीला मानव
अल्पकालीन सत्ता मे अनुवेष्टित,
सर्वाधिक अज्ञ है जिसमे यह अत्यधिक आश्वस्त है,
दर्पण तुल्य सार उसका, एक कुपित कपि की तरह
उन्नत स्वर्ग मे अठखेलियाँ मनुजमय करता ऐसी
कि आँसू बहायें देवदूत भी देख उन्हे।'

यह है शेक्सपियर द्वारा प्रस्तुत मानव का पाशविक स्वरूप!

मनुष्य के परस्पर विरोधी गुण धर्म वाले दैवी और दानवी स्वरूप के कारण मानव जीवन अत्यन्त रोचक, अतीव द्वन्द्वात्मक एव दु खमय, एवम् अर्थपूरित और महत्त्वपूर्ण बन जाता है। परन्तु इस विषादमय वैचित्र्य की अनेकता के पर्दों के परे एक गहन तथा व्यापक समन्वय के ऐक्य का आनन्दमय अस्तित्व है। मनुष्य पूर्णरूपेण स्वतन्त्र है अपने चयन म, वह चाहे तो अनेकता के वैषम्य पथ को अपने जीवन का सुखस्रोत मान सकता है, वह चाहे तो अनेकता मे एकता की शाश्वत शोध के मार्ग का आनन्ददायी शान्त जीवन प्राप्त कर सकता है। अनेकता का मार्ग नाना नाम-रूपात्मक पदार्थों का मार्ग है, जिस पर काल का शासन है। इस शासन के नागरिक ही शनै शनै नियतिवाद के शिकार होते हैं। परन्तु एकत्व के सत्यानुगामी आत्मानुशासन द्वारा जीवन मे सच्ची स्वतन्त्रता का उपभोग करते है और उनके इसी स्वातन्त्र्य दर्शन का व्यावहारिक रूप है समत्व की सामाजिक जीवन म प्रतिष्ठा। यह मोक्ष का मार्ग है।

दुर्योधन महावृक्ष मृत्युमयता का वाचक है और युधिष्ठिर महावृक्ष मृत्युञ्जयता का। मनुष्य स्वतन्त्र है अपने जीवन तरु को कालमयी या काल

जयी बनाने म । महर्षि व्यास स्पष्ट कहते ह कि 'इद' वाच्य सारा दृश्य जगत् कालाधीन है, वह 'इद सर्व' की जड ह, काल ही अपने बस मे करके उसे (इद को) हडप लेता है।

कालमूलमिदसर्वं जगद्बीज धनञ्जय ।
काल एव समादत्ते पुनरव यदृच्छया ॥
—मौसलपव 8 13

इद' सब का दृष्टा एव भोक्ता शुद्ध अहम्' कालाधान नहीं ह । यह 'अह' विश्व की आत्मा है, एक, अखण्ड, चिन्मय समरस, स्ववश और अकाल। समस्त शास्त्रो और वेदो मे यही जानने योग्य है, यही वेद और वेदविद् और वेदकृत् रूप मे प्रकट होता है। स्वय व्यास के परम वचन ह—

सवस्य चाह हृदि सनिविष्टो
मत्तो स्मृतिज्ञानम पोहन च।
वेदैश्च सर्वै अहमेव वेद्या
मदान्तकृद्वेदवि देव चाहम् ॥
—भीष्मपव

इस 'अहम्' का अपरोक्षानुभव ही युधिष्ठिर नामक धममय महाद्रुम पर लगने वाला समृद्ध पुष्पफल है। धममय जीवन के निर्माणाथ सत्य भाषण इन्द्रिय निग्रह और तत्परायणता अनिवाय ह। यह वेदविज्ञान का रहस्य है।

वदस्योपनिषत्सत्य सत्यस्योपनिषद्दम ।
दमस्योपनिषद्मोक्ष एतत्सर्वानुशासनम् ॥
शा प 299 13

यह महर्षि व्यास का ऋजुवाद ह । अजुन की तरह ऋजुभाव से सम्पन्न होकर ही कृष्ण की प्रसन्नता प्राप्त की जा सकती है। ऋजुता के आपादनाथ ही यह पाथेय ह वेद का सार (उपनिषन्) सत्य (भाषण) है, सत्य का सार सयम (दम) है सयम का सार मोक्ष ह—जीवन की पूणता, स्वातन्त्र्य और समत्व का अद्भुत जीवन ! यह आत्मानुशासन सबके लिए है। मानव मात्र इस अध्यात्म स्वातन्त्र्य और समता का जन्म से ही अधिकारी ह। इस अधिकार के उपभोग-अनुपभोग मे वह सबके समान है, पूण स्वतन्त्र है— चाहे वह सम्राट जनक हो या सुदामा, अर्जुन हो या एकन्य राजा परीक्षित हो या बालमुनि व्यासनन्दन शुकदेव ! यह आत्मानुशासन ही नर म नारायणत्व के प्रकटन की भूमिका तयार करता है, मानवीय गुणो से उसे विभूषित करता है स्वतन्त्र जीवन की श्रेष्टता म दीक्षित करता ।

महाभारत में इस आत्मानुशासन को ही धर्मद्रुम की संज्ञा से अभिहित किया गया है। इस धर्मतरु के मूल में समानता का उद्घोषक— 'समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः'—स्वयं कृष्ण हैं। इस समानता के अव्यय बीज—'निधानं बीजमव्ययम्'—में से ही स्वतन्त्रता का मानवीय गुण अर्जुन रूपी स्कन्ध में प्रकट होता है। समानता ही मानवीयता का नरोत्तमता का, मूल आधार है और स्वतन्त्रता उसका प्रत्यक्ष जीवन। अतः समानता और स्वतन्त्रता मानव के नैसर्गिक दायित्व हैं, और जो इन मानवीय दायित्वों का उल्लंघन करता है— चाहे वह उल्लंघन धर्म की ओट में हो अथवा अधर्म-जन्य—वह मन्युमय दुर्योधन है और उसका प्रतिकार करना स्वतन्त्रता-प्रिय प्रत्येक मानव का परम दायित्व है। अर्जुन ने दुर्योधन की मन्युमयता का खुलकर विरोध किया क्योंकि कौरवों ने मिलकर छलछद्म और अन्याय से पाण्डवों के स्वतन्त्र जीवन एवं उनके अस्तित्व को समाप्त कर देने के लिए नानाविध षड्यन्त्र रचे थे। स्वतन्त्रता का अपहरण उतना ही घोर अन्याय है जितना कि उसे सहन करना। अतः स्वतन्त्रता के मानवीय जीवन की पूर्णता हेतु दूसरों की स्वतन्त्रता को मात्र मान्यता प्रदान ही नहीं करना है, अपितु उसके रक्षण और पोषण के पावन दायित्व को निभाना महाभारतकार का स्पष्ट मन्तव्य रहा है जिसकी पुष्टि धर्मराज युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ करने हेतु परामर्श दान से होती है।

स्वतन्त्रता के इसी रक्षण-पोषण के मूल में समानता के तत्त्व एवं अधिकार का दर्शन होता है। कृष्ण दृष्टि में सब समान हैं, कृष्ण दृष्टि आत्मदृष्टि का पर्याय है—'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः' (भीष्मपर्व)। व्यास कहते हैं कि समानता को मानव धर्म का मूल मानने पर स्वतन्त्रता मानवता का स्तम्भ बन जाती है। हम सबको अपने विचार, विश्वास आदि में स्वतन्त्रता अतीव प्रिय है। अतः दूसरों की मान्यताओं और उनके चिन्तन कणों के प्रति आदर बुद्धि हमें रखनी चाहिए। स्वतन्त्रता सबके लिए है और इसका प्राण-तत्त्व यह है कि 'जो स्वयं के प्रतिकूल हो वैसा आचरण हम दूसरों के लिये न करें'—आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्। इसी से मनुष्य के वैयक्तिक और लोकजीवन में स्वतन्त्रता जन्य कल्याण की प्राप्ति होती है। वे कहते हैं— 'मनुष्यलोके यत् श्रेयः परं मन्ये युधिष्ठिर' (वनपर्व 183 88) हे, युधिष्ठिर? मनुष्यलोक में जो कल्याण है, उसी को मैं श्रेयस्कर, एवं उत्तम मानता हूँ। स्वतन्त्रता ही, जो समानता के मूल बीज से उत्थित एवं प्रवर्द्धित हो, मनुष्य जीवन और मान्यता के कल्याण की सबसे बड़ी विभूति है।

अतः महाभारतकार की दृष्टि में मानव वही है जिसके चिन्तन और

चरित्र में समता का दर्शन हो और स्वतन्त्रता का सर्वहितकारी व्यवहार।

विलोमत जिस व्यक्ति व समुदाय के चिन्तन और चरित्र में समता के दर्शन के स्थान पर अमनीषा जन्य विषमता का स्वार्थ परक दर्शन हो और स्वतन्त्रता के व्यवहार के स्थान पर स्वयं की स्वतन्त्र समृद्धि हेतु अन्य व्यक्तियों व समुदाय के स्वतन्त्र जीवन की समृद्धि पर मन्युमय प्रहार व कुठाराघात करने वाला अमानुषीय एवं विवेकहीन व्यवहार हो वह व्यक्ति 'मानव' नहीं है और वह समुदाय 'मानवीय' नहीं है। भारत व्यास की दृष्टि में न तो मानव का अभ्युदय समाज के अभ्युदय की बलिवेदी पर सम्भव है और न ही समाज अपने उत्थान हेतु मानव के वैयक्तिक स्वातन्त्र्य एवं अभ्युदय की अवमानना कर सकता है। दोनों का परस्पर अभिन्नत्व है मानव के व्यक्तित्व का सर्वाङ्गीण विकास ऐसे सामाजिक सुव्यवस्थापन के अभाव में सम्भव नहीं है जिसमें समत्व दर्शन और स्वातन्त्र्य जीवन की मानवीय प्रतिष्ठा न हो, पारस्परिकता के आत्मीय विस्तार का नाम ही धर्म है, और पारस्परिकता के अनात्मीय संकोच का नाम अधर्म। धर्ममय जीवन प्रेम से परिपूर्ण सर्वहित की कामना का पोषक रहता है, अधर्ममय जीवन मन्युमयता से सिक्त स्वहितकारी गतिविधियों की षडयन्त्रकारी नित्य नयी संरचना करता रहता है।

निष्कर्षत, व्यासानुसार जीवन में दो मूल प्रकार के मनुष्य हैं और दो ही प्रधान जीवन-पद्धतियाँ हैं। मनुष्य या तो धर्ममय है या 'मन्युमय', और मानव जीवन के मूल्य इन्हीं दो प्रकार की दृष्टियों से प्रादुर्भूत मूल्य हैं जिनमें मेल कम और संघर्ष ज्यादा है। धर्ममय दृष्टि से सृष्ट पुष्ट और रक्षित जीवन मूल्यों में समता जन्य स्वतन्त्रता की प्रधानता है, जिसके वांछित संरक्षण और संवर्द्धन हेतु सर्वस्व न्यौछावर करने के लिए कटिबद्ध मनुष्य ही वस्तुत मानव का श्रेष्ठ स्वरूप है। स्वतन्त्रता के रक्षण में ही मनुष्य की गौरव गरिमा है, मानवीयता है, उसके लिये कितना ही महंगा मूल्य उसे क्यों न चुकाना पड़े। मन्युमय दृष्टि से पोषित और रक्षित जीवन मूल्यों में जितना ध्यान अपने सुख और अपनी स्वाधीनता व समृद्धि का रहता है उतना अन्य व्यक्तियों की न्यायोचित व सुख-स्वातन्त्र्य समृद्धि पर नहीं रहता, इतना ही नहीं अन्यजनों की स्वतन्त्रता और समृद्धि के अपहरण से स्वयं के सुख और अहंकार का पोषण होता हो तो वह किसी निम्न व अधम कोटि के जीवनघाती षडयन्त्रों की व्यूह रचना करने में भी संकोचशील नहीं होता। प्रसंगवश, इस महत्त्वपूर्ण तथ्य का ध्यान में रखना जरूरी है कि कौरवों का पक्ष अधर्म और अन्याय का पक्ष है उनके समर्थक भीष्म और द्रोणाचार्य जैसे अतिरथी और महारथी हैं व संख्या में अत्यधिक और उनकी सैन्य शक्ति सामरिक प्रहार की दृष्टि से बेजोड़

है, और वे युद्ध करने पर उतारु है तथा सगठित है। परन्तु पाण्डव सख्या मे अत्यन्त कम और सैन्य दृष्टि से अपेक्षाकृत अल्पबली होने के साथ साथ असगठित हैं, उनका पक्ष धर्म और न्याय का पक्ष है और वे युद्ध नही चाहते वरन् समस्या को बीच बचाव एव वार्ता के माध्यम से हल कर लेना श्रेयस्कर समझते हैं। इतना अवश्य है कि सत्य और धर्म, मानवीय स्वतन्त्रता और न्याय की प्रतिष्ठा हेतु तथा उत्तम जीवन के मूल्यो की परिरक्षा हेतु वे सब कुछ न्योछावर करना अपना परमदायित्व स्वीकारते हैं। इस दायित्व पालन की मानवीय प्रक्रिया मे ही उन्होने कौरवो द्वारा उत्तेजित और आरोपित युद्ध को, औचित्य की दृष्टि से स्वीकारा और श्रीकृष्ण के सरक्षण व निर्देशन म यह सिद्ध करके कि धर्म व न्याय के पक्ष की ही अन्ततोगत्वा जय होती है, चाहे वे एकाकी और अल्पसख्यक ही क्यो न हो उन्होने मानवीय जीवन के उच्चतम आदर्शो और नैतिक जीवन के मूल्यो की मशाल को उन्नत एव प्रज्वलित रखा और उनका यह पराक्रम युगयुगान्तर मे युवा-पीढी के चिन्तनशील, नैतिक मूल्यो के नेताओ को उस मशाल की लौ को प्रदीप्त रखने की प्रेरणा प्रदान करता रहा है। महाभारत मे वर्णित कौरव पाण्डवो के भयकर विनाशकारी युद्ध मे इन दो जीवन मूल्यो के भीषण सघर्ष का उत्कृष्ट दृष्टान्त होता है, जिसम अन्ततोगत्वा मानवीय समता न्याय स्वतन्त्रता के पक्ष की विजय होती है। पाण्डवो की जय मानव स्वातन्त्र्य के सत्य की जय है, धर्म की जय है, मानवता की जय है।

द्वितीय प्रकरण

'न च कश्चित् शृणोति माम्'

मानव जीवन में मूल्यो का सघर्ष

मानव जीवन विकास की अनन्त सम्भावनाओ और सामर्थ्य के तन्तुओ से निर्मित एक ऐसा ऊर्जा पुञ्ज है जिसके सम्यक सयमित सचालन से उन सम्भावनाओ की उत्तरोत्तर पूर्ति और उस सामर्थ्य का क्रमश अभ्युदय और वर्द्धन विकासो मुखी जीवन धारा म अनुभूत और सपादित होने लगता है। इस सयमित सचालन मे ही मानव जीवन की पूर्णता व सार्थकता है, जीवन में जय का उद्घाटन है नर की नरोत्तम मे और नरोत्तम की नारायण मे क्रमिक प्रतिष्ठा है। इस सचालन शक्ति का अक्षय स्रोत मानव की अडिग धर्मनिष्ठा है। धर्म ही, व्यासानुसार, मानव और मानवता के चरम विकास का सनातन मूल्य एव मार्ग है। विपरीतत धर्म विरोध एव धर्म की अवज्ञा का मार्ग मानव और मानवता के विनाश का राग युक्त मोह मार्ग है। मनुष्य मार्ग चयन मे स्वतन्त्र है वह दोनो म से किसी एक मार्ग का मुखापेक्षी हो सकता है। विकास के धर्ममय मार्ग मे सयम द्वारा जीवन को मर्यादित करता हुआ मानव अपने वैयक्तिक जीवन म आत्मोदय और सामाजिक जीवन म हितकारी प्रेरणाओ और मानवता के सामूहिक तथा सहकारी अनुष्ठान का प्रवर्तन कर सकता है। और इसके विपरीत वह केवल वैयक्तिक अभ्युत्थान एव गौरवार्जन हेतु काम क्रोध तथा लोभ से निर्मित गर्वीला धर्मविरोधी मार्ग का अवलम्बन कर 'त्रिविध नरकस्येद द्वार नाशनमात्मन' वाले स्व और स्व समवर्गों के सवनाश का कारण भी बन सकता है, जैसा महर्षि लोमश युधिष्ठिर को कहते हैं—

> अधर्मेण धर्मेण वर्धतस्तनो भद्राणि पश्यति ।
> तत सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति ॥
>
> वनपर्व 94 4

अर्थात् पहले अधम द्वारा मनुष्य बढ़ता है फिर अपने मनोनुकूल सुख सम्पत्ति रूप अभ्युदय का दर्शन करता है, तत्पश्चात् वह शत्रुओ पर विजय प्राप्त करता है और अन्त म जड मूल सहित नष्ट हो जाता है। अत महाभारतकार ने

के पश्चात् विधवा माता कुन्ती सहित पाँचो पाण्डव बालको का हस्तिनापुर म प्रथम आगमन ह, और इस चरण का अतिम बिन्दु पाञ्चाल नरेश की पुत्री द्रौपदी के स्वयम्वर मे द्रष्टव्य है, तथा इस चरण की मूल घटनाओ में दुर्योधन आदि द्वारा भीम को कालकूट विष देकर जलक्रीडा और प्रीति भोज के बहाने गगा के प्रवाह मे हत्यार्थ फेंक देने का षडयन्त्र, द्रोणाचार्य द्वारा द्रुपद राजा से प्रतिशोध, लाक्षागृह-दाह, हिडिम्ब का वध, बकासुर सहार और द्रौपदी स्वयम्वर आदि समाविष्ट हैं। द्वितीय चरण का श्रीगणेश द्रौपदी स्वयम्बर के पश्चात पाञ्चाल नरेश के यहाँ से कुन्ती और द्रौपदी समेत पाचो पाण्डव वीरो का धृतराष्ट्र के निमन्त्रण पर पुन हस्तिनापुर म प्रवेश के साथ होता है, और इसकी इति श्री द्रौपदी चीर हरण की जघन्य अमानवीयता न्य विवशता म होती है, इस चरण की प्रधानतम घटनाएँ ये हैं— पाण्डवो को राज्य देन के सम्बन्ध मे कौरवो का विचार और निणय, अर्जुन का नियम भङ्ग के कारण वनवास, अर्जुन का वनवास काल मे उलूपी और चित्राङ्गदा के साथ विवाह और चित्राङ्गदा से बभ्रुवाहन का जन्म, सुभद्रा हरण, खाण्डव दाह, जरासन्ध वध, युधिष्ठिर द्वारा राजसूय यज्ञ का प्रारम्भ, शिशुपाल वध, राजसूय यज्ञ की समाप्ति, दुर्योधन की जलन और शकुनि-सचालित द्यूत मे युधिष्ठिर की पराजय, द्रौपदी का कौरवो की सभा मे अपमानित होना, पुन द्यूतक्रीडा और पाडवो को तेरह वष का वनवास। ततीय चरण का सूत्रपात पाण्डवो के वनवास से होता है और उसकी समाप्ति तरह वर्षों के वनवास के बाद अपने स म्मान और शान्तिपूर्ण जीवनयापन हेतु पाण्डवो के सभी प्रयासो की विफलता, श्रीकृष्ण का शान्तिदूत के रूप म धतराष्ट्र और दुर्योधन की सभा मे जाना और असफल होने के साथ साथ कौरवो द्वारा पाण्डवो पर युद्धारोपण म होती है। इस चरण म अनेक घटनाएँ होती हैं जिनम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटनाएँ अर्जुन किरात युद्ध, गन्धमादन पवत पर दुर्योधन का अवहरण, जयद्रथ द्वारा द्रौपदी हरण, यक्ष प्रश्न, कीचक वध, गोधन-हरण, कौरवो द्वारा विराट राज्य पर आक्रमण और उनकी छद्मवेश मे अर्जुन द्वारा पराजय, सन्धि शान्ति वार्ताएँ, और अ ततोगत्वा कौरव-पाण्डव महायुद्ध का आरम्भ, युद्ध की भीषणता और परिसमाप्ति।

प्रथम चरण म जीवन अस्तित्व स्वय मूल्य बनकर प्रकट होता है। जीवन की पवित्रता का स्वीकारना महत्त्वपूर्ण है, पर उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि उस पवित्रता की वृद्धि एव अस्तित्व के सरक्षण-सवद्धन हेतु मानव सदा तत्पर और सक्रिय रह। दुर्योधन आदि समस्त कौरव राजकुमार पाण्डव-बालको की हस्तिनापुर म विद्यमानता को तनिक भी नही चाहते, विशेषकर

भीम व बल और साहस स व खूब जलत ह। अत उन्होंने भीम को मार डालने का एक जटिल षडयन्त्र रचा, जिसका विवरण विवेचन प्रसग वश किया जायेगा। भीम की हत्या करके तथा युधिष्ठिर आदि अन्य पाण्डवो को कैद म डालकर निष्कण्टक राज्य करना दुर्योधन का मूल लक्ष्य रहता है। वह भूल जाता है कि पाण्डव उसी के भाई हैं, उनका भी राज्य पर उतना ही अधिकार है जितना कि इनका (कौरवो का), उन्ह भी स्वतन्त्र और मानवोचित जीवन यापन करने का अधिकार मिलना चाहिए। दुर्योधन स्वतन्त्र जीवन की पाण्डव माग को ठुकरा कर, उनके अस्तित्व को ही मिटाने में प्रयत्नशील होकर जीवन विरोधी षड्यन्त्र का रचयिता बनता ह। अत प्रथम चरण मे मानव-जीवन के अस्तित्व की पवित्रता खतरे म पडती है। पाण्डव बालको का प्रयत्न इस पवित्रता को, बिना किसी विज्ञापन के, अक्षुण्ण रखने म है, परन्तु दुर्योधन का पूरा प्रयत्न उसे नष्ट और छिन्न भिन्न कर देने म है। मानव जीवन मूल्यो के सघर्ष का यह सद्धान्तिक धरातल है जीने का अधिकार मानव मात्र को समान रूप से उपलब्ध होना चाहिए।

द्वितीय चरण मे सघर्ष सूक्ष्म स्तरीय हो जाता ह। प्रथम चरण मे मूल्यो का सघर्ष अस्तित्व प्रधान अधिक है, पर तु द्वितीय चरण म यह सघर्ष अस्मिता प्रधान हो जाता है। अस्तित्व प्रधान सघर्ष की प्राणदा शक्ति जीने के अधिकार से प्रादुर्भूत होती है, अस्मिता प्रधान सघर्ष स्वाधीनता के गौरव तथा समानता की अनिवार्यता से मण्डित रहता है। इस सघर्ष म पाण्डव शारीरिक अस्तित्व की सीमाओ का अतिक्रमण कर मन की अस्मिता के उच्च और सूक्ष्म स्तर का स्पर्श करन लगते हे। इसमे एक तरफ स्वतन्त्रता, समता, स्वाभिमान, और न्यायपरक मानवीय जीवन जीने और जीने देने की परम्परा का धर्म प्रवाह है, और दूसरी तरफ स्वार्थ परक स्वतन्त्रता, असम व्यवहार और मनोमालिन्य एव मात्सर्य ज य न्यायविहीन परम्परा का अमानुषीय प्रवाह है। इस चरण म सक्षेपत नराधमता और नरोत्तमता के जीवन मूल्यो मे भारी टकराव है। इस टकराव म मानुषी भाव की श्रेष्ठता और निकृष्टता का बहुरगी चित्रण है। लगता ह महर्षि व्यास जीवन मूल्यो के सघर्ष का अकन द्वारा मानव-नवोत्थान का काव्यमय आह्वान कर रहे ह।

तृतीय चरण म इस सघर्ष का स्तर और अधिक गहरा, और सूक्ष्मतर हो जाता है। इसम सघर्ष मात्र शारीरिक या मानसिक गुणो स ही प्रादुर्भूत न होकर अध्यात्म प्रेरणाओ मे सम्पृक्त और सयोजित होने लगता है। प्रथम चरण के सघर्ष म मनुष्य का नरत्व जय पथ का अनुगामी होता है, द्वितीय चरण के सघर्ष म नरोत्तमता जय-पथ गामिनी बनती है और तीसर चरण म

मानव के जीवन मे नारायणत्व का द्वार उन्मुक्त होता है और सजय इस सत्य की प्रामाणिकता का यशोगान यह कह कर करता है—

यत्र योगेश्वर कृष्णो यत्र पार्थो धनुधर ।
तत्र श्रीविजया भूतिध्रुवा नीतिर्मतिमम ॥

भीष्म पर्व

अत मानव जीवन मूल्यो के सघष का महाभारतीय इतिहास केवल कौरवो और पाण्डवो के प्राचीन कालीन जीवन मूल्यो के सघष का ही इतिहास नही ह, यह मानव मात्र के सकटमय जीवन मे नित्य उठने वाले जीवन आदर्शों व मूल्यो के सघष का सनातन कथानक है। मानव का जीवन सदा निष्कण्टक, स्निग्ध धारामय और सफलतापूण नहीं होता। अस्तित्व विहीन हो जाने और अस्मिता पर दु सह्य अपमान की चोटो के लगने से मरणेच्छा के दुबल क्षण भी जीवन मे आते हैं। महाभारत ऐसी घोर सकटापन्न अवस्था मे जीने की नयी सूझ, साहसिकता और कला प्रदान करने वाला काव्य सिद्ध होता ह। वस्तुत विपत्ति वैषम्य के परीक्षा काल मे पाण्डवो की भाँति धम दृष्टि और अपरिमेय साहस के साथ मानव किस प्रकार अपने स्वातन्त्र्य और सम्मान का रक्षा कर सकता ह, महाभारत इसी का शुभ्र साहित्यिक दपण ह।

प्रथम चरण

ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि। तत्सबन्धी सत्यान्वेषणाथ यह समीचीन होगा कि सर्वप्रथम हम महाभारत के मूल कथानक से अपना परिचय स्थापित करें। उत्तर वदिक काल मे हस्तिनापुर मे पुरुवशियो का राज्य था। तत्कालीन जन पदो और गणराज्यो मे वह सबसे अधिक प्रतिष्ठित राज्य माना था। जब पुरुवश सन्तानहीन होने के कारण दुदशा को प्राप्त हुआ, तब महाराजा शान्तनु के पुत्र भीष्म ने महारानी सत्यवती एव अन्य मन्त्रियो आदि से परामश से, पराशर पुत्र वेदव्यास से अनुरोध किया कि वे दिवगत महाराजा की विधवा पुत्र-वधुओ का नियोग व्यवस्था से सन्तान लाभ करवावें। पुत्र विहीन वैधव्य राज वधुओ को अवश्य खलता था, परन्तु पराशर नन्दन वेदव्यास का प्रचण्ड तपोमय कृष्णकाय व्यक्तित्व उन्हे और भी अधिक असह्य था। सवथा असह्य स्थिति तो यह थी कि वश-परम्परा के विछिन्न होने पर पुरुवश की राज्य सत्ता विनष्ट हो जायेगी। अत यह उचित था कि श्रद्धेय गागेय भीष्म और राज माता सत्यवती के परामश का आदर किया जाये। इसी दृष्टि से अम्बिका, अम्बालिका और अम्बा ने कृष्णद्वैपायन के साथ नियोग समागम हेतु स्वीकृति दी। परन्तु द्वैपायन के दर्शन मात्र से अम्बिका ने भयभीत और विह्वल होकर

अपने नेत्र मून्द लिये और फलत उसकी कोख मे जन्मा ध धृतराष्ट्र का जन्म हुआ, अम्बालिका के गात तो द्वैप को देखते ही शिथिल पड गये मुह पीला पड गया और परिणामत उसे पाण्डु पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। अपनी दोनो बहिनो की भीतिगाथा से आतंकित अम्बा ने अपना निर्णय बदल दिया और अपनी जगह उसने अपनी दासी को व्यास के पास भेज दिया। दासी के समर्पण भाव की विलक्षणता के फलस्वरूप उसके विदुर नाम का प्रतिभावान् और प्रज्ञा वश पुत्र उत्पन्न हुआ। धृतराष्ट्र पाडु से बडे थे, पर जन्मान्ध थे, अत पाण्डु का राज्यसिंहासन पर बिठाया गया। विदुर के जन्मजात उच्च लक्षणो को देखकर भीष्म ने उसका लालन-पोषण भी राजकुमारो की तरह ही किया। आगे चल कर यही विदुर धर्मनीति के प्रसिद्ध व्याख्याता हुए। सभी राजकुमार बली, शस्त्र शास्त्रविद्या पटु और गुणी सिद्ध हुए। धृतराष्ट्र का विवाह गान्धार नरेश की कन्या गान्धारी से हुआ, जो बडी तपस्विनी और पतिव्रता स्त्री थी। अपने जन्मान्ध पति की तरह उसने भी जीवन भर के लिए अपनी आखो पर पट्टी बान्ध ली। व्यास के आशीर्वाद से धृतराष्ट्र के एक सौ पुत्र और एक कन्या पैदा हुई। दुर्योधन सबसे बडा पुत्र था और कन्या का नाम दु शला था, जिसका विवाह सिन्धुराज जयद्रथ से हुआ। धृतराष्ट्र की दूसरी पत्नी से युयुत्सु नामक पुत्र हुआ।

पाण्डु का विवाह यदुवशी राजा शूरसेन की पुत्री पृथा से हुआ जिसका नाम कुन्ती भी था क्योंकि उसका पालन शूरसेन के फुफेरे भाई कुन्तीभोज ने किया था। कुन्ती कृष्ण की बुआ थी, साधु सन्तो की सेवा करने वाली सुलक्षणा थी जिसने दुर्वासा ऋषि को प्रसन्न करके एक ऐसा वरद मन्त्र प्राप्त किया जिसके जप अनुष्ठान से वह किसी भी देवता का आह्वान करके पुत्र प्राप्त कर सकती थी। ऋषि वचन की सत्यता की सिद्धि देखने के कौतूहल से कुन्ती ने सूर्य का मन्त्राह्वान किया और अनिच्छा होते हुए भी कुमारावस्था मे सूर्य के अनुग्रह से उसे पुत्र प्राप्ति हुई। लोकलाजवश कुन्ती ने नवजात शिशु को एक पेटी मे बन्द करके गगा मे बहा दिया जिसे कौरवो के अधिरथ नामक सारथि ने तरता हुआ पाया, उसे पाला पोसा जो आगे चल कर कर्ण के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

भीष्म की मन्त्रणा और व्यास के परामर्श से पाण्डु ने हस्तिनापुर मे लोक हितकारी राज्य प्रशासन की स्थापना की तथा अपनी विवेकजन्य विनम्रता, अपूर्व पराक्रम और सतत विजयशीलता से वे सम्राट की उपाधि से विभूषित हुए। मृगया उनका राजोचित व्यसन था। एक बार आखेट करते समय पाण्डु के शराघात से मृग और मृगी के रूप मे ऋषिकुमार किन्दम अपनी पत्नी के

अनुसार सारी मानवता दो दृष्टि वाले मनुष्यों में ही विभाज्य है धर्ममय दृष्टि वाले व्यक्ति जो सनातन धर्म को विकास का सूत्र स्वीकारते हैं, और मन्युमय अधर्म दृष्टि वाले जन जो मनमुखी आचरण को ही अपनी प्रगति का सार सर्वस्व मानते हैं। इन दो दृष्टियों से व्यक्तिगत और सामाजिक स्तर पर जिन जीवन मूल्यों की सृष्टि होती है, उनमें परस्पर प्रवर्तित संघर्ष क्रम की परिणति अन्ततः धर्म की प्रतिष्ठा और अधर्म की पराजय में ही होती है ऐसा महर्षि वेदव्यास का पुष्ट और स्पष्ट मत है।

प्रसंगवश यह ध्यातव्य है कि महाभारत में वेदव्यास ने जिस धर्म का स्वरूप निर्धारण किया है, वह अत्यन्त ही विशद और व्यापक है। तात्त्विक दृष्टि से धर्म समूचे विश्व का अलिखित संविधान है, पूरे ब्रह्माण्ड का नियामक तत्त्व है—'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा' अर्थात् धर्म ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की प्रतिष्ठा है, जगत् का आधार है। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से 'यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे'—न्याय के अनुसार धर्म मानव जीवन का वैयक्तिक और सामाजिक स्तर पर, आत्मसंयम के आधार पर, सम्यक् व्यवस्थापन ही है। अतः तत्त्वतः, धर्म सार्वकालिक और सार्वभौम है, सनातन और अनादि है, अखण्ड और अविभाज्य है, तथा व्यावहारिक स्तर पर धर्म देश कालानुसार नाना रूपों में व्यक्त होता है, स्थान और समय की समस्या के समाधान एवं आकांक्षाओं की पूर्ति हेतु तत्कालीन विद्वद् समाज द्वारा उसका मार्जन, सर्जन, परिमार्जन होता रहता है। 'बहुद्वारस्य धर्मस्य नेहास्ति विफला क्रिया'— धर्म के बहुत से द्वार हैं जिसके द्वारा धर्म अपनी अभिव्यक्ति करता है तथा धर्म की कोई भी क्रिया विफल नहीं होती (शान्ति पर्व 174/2)। ये द्वार युग द्रष्टा मनीषियों के पुष्ट मत व आचरण मुख ही तो हैं। तदर्थ ही धर्माचरण सर्वदा तथा सर्वथा श्लाघनीय है।

धर्म के इन विभिन्न द्वारों से व्यक्त होने वाले धर्म के रूपों के पीछे और मूल में जो सार तत्त्व छिपा रहता है वह महर्षि व्यास के इस चिर स्मरणीय पद्य में उद्घाटित है—

श्रूयतां धर्म सर्वस्वं श्रुत्वाचाप्यवधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

अर्थात् 'अपने लिए जो वस्तु प्रतिकूल हो वह दूसरों के लिए कभी नहीं करनी चाहिए'—धर्म का यह मौलिक तत्त्व महाभारतकी दृष्टि में धर्म का सार सर्वस्व है। वस्तुतः मानव मात्र के लिए जगत् में सर्वश्रेष्ठ और प्रियतम वस्तु 'आत्मा' ही है क्योंकि वही सब का केन्द्र तत्त्व है, जीवनाधार है। 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति'— आत्मा की कामना से ही इदं वाच्य यह सब कुछ प्रिय लगता

है, आत्मा से ही उन सबकी महत्ता है, स्वत उन पदार्थों एव वस्तुओं का कोई मूल्य नहीं है। युगबोध की पीठिका म अभिव्यक्त एक ही धम के नाना रूपा में इसी तत्त्व की पुष्टि होती रहती है। विश्व के स दम में धम जगत् का सचालक व नियामक है, सृष्टि का सविधान है, व्यक्ति के स दम में धम मानव जीवन की आचार-सहिता है जो मनुष्य को कत्तव्य दशन व पालन में दीक्षित करती है, एव व्यष्टि जीवन को समष्टि जीवन मे सामरस्य मे नित्योभत एव प्रतिष्ठित करने हेतु आह्वान करती है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' इसी आह्वान का अत्यत मानवीय उद्घोष है। अत धम की व्योमवद् प्रतिष्ठा है, वह सब का धारक है, वही सब में अनुस्यूत है काष्ठ मे अग्नि की तरह, सभी उसी से आच्छादित हैं जस आकाश से पृथ्वी आदि।

जिस प्रकार आकाश मानव की रचना नहीं है, उसी प्रकार धम जो विश्व का सविधान है वह मानव मेधा की उपज न होकर विश्वाधिप की आत्म सामथ्य है जिससे समूचे ब्रह्माण्ड का नियमन व शासन सचालन होता है। उस नियम मे दीक्षित व अनुशासित होना ही धम का दशन व पालन करना है, इसी से धम का सामथ्य मानव जीवन को व्यष्टि समष्टि के सामरस्य मे प्रतिष्ठित कर उसे नर से नरोत्तम भाव मे और तदनन्तर नारायणत्व मे याने आत्म स्थिति म सदोदित कर देता है। यह समत्व का स्वातन्त्र्य जीवन व मोक्ष दशन है। महर्षि व्यास के शब्दो में।

वेदस्योपनिषद्सत्य सत्यस्योपनिषद्दम ।
दमस्योपनिषद्मोक्ष एतद्सर्वानुशासनम् ।।

अत धम मूलत *एक अनुशासनबद्ध जीवन की प्रेरणा है, स्वतन्त्र विवेक द्वारा* चयनित कार्यान्वित जीवन है। आत्म सयम (दम) धम का साधन है, आत्मानुभूति नरोत्तम भाव मे मोक्ष का द्वार है, आत्म साक्षात्कार एव नारायण प्राप्ति धम की चरम सिद्धि है। सारत धम का अभिप्राय मानव को एक ऐसे अनुशासन मे मर्यादित करना है जिससे वह ससार मे जीवन यापन करता हुआ जीवन के घोर सग्राम मे अपने भीतर और बाहर के अवरोधो एव अरियो पर विजय प्राप्त करता हुआ मनुष्य मात्र की, सर्वात्म भाव से, उन्नति मे दत्त-चित्त हो जाये और शनै शनै सब प्रकार की सकीण मनोवृत्तिया से अपने आपको अलिप्त और मुक्त रखता हुआ वैयक्तिक और सामाजिक जीवन मे समता और स्वतन्त्रता का सहज और अविचल उपाजन कर सके। यही धम का असली और वैदिक रूप है। मनुष्य मेधा द्वारा युगबोध की भूमिका म प्रतिपादित एव परिमार्जित धार्मिक मत एव सम्प्रदाय इसी सनातन धम के वैसे ही सकुचित रूप हैं जैसे अखण्ड आकाश मे मानव हाथो द्वारा निर्मित भव्य

भवन अट्टालिकाओं प्रयोगशालाओं आदि में अनुस्यूत आकांक्षा। परन्तु वास्तविक धर्म का पालन करना लोहे के चने चबाना है। अतः परिणाम कल्याणमय होने पर भी अधिकांश जन धर्म मार्ग को नहीं अपनाते क्योंकि उसका प्रारम्भ कठिनाइयों और क्लेशों से भरा होता है। स्वयं वेदव्यास मनुष्यों के इस धर्म विरोधी भाव का दिग्दर्शन कराते हुए लिखते हैं।

ऊर्ध्व बाहुर्विरौम्येष न चकश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥

'मैं अपनी भुजा उठा कर उच्च स्वर से पुकार रहा हूँ, परन्तु कोई मेरी सुनता ही नहीं। धर्म से अर्थ उत्पन्न होता है, काम तृप्त होता है। फिर क्यों कर मनुष्य धर्म का सेवन नहीं करता?'

महाभारत का युद्ध भी धर्म तथा अधर्म के बीच उग्र संघर्ष का काव्योद्गार है जिसमें पाण्डव धर्म के पक्षधर हैं और कौरवराज दुर्योधन आदि अधर्म के। पाण्डव पुरुषार्थ चतुष्टय— धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष— की मानवीय प्रेरणा से जीवन में समत्व और स्वाधीनता की सर्वमंगलमयी प्रतिष्ठा का प्रतिनिधित्व करते हैं, दुर्योधन के संरक्षण में कौरवगण पुरुषार्थ द्वय— अर्थ और काम— की प्रबल प्रेरणा से जीवन में वैयक्तिक स्वातन्त्र्य एवं सत्ता समृद्धि हेतु मत्स्य न्याय के प्रवर्तन का प्रतिनिधित्व करते हैं। सारा मानव समाज, व्यासानुसार, इन दो जीवन दर्शन एवं मूल्यों व पद्धतियों वाले मनुष्यों में ही विभाज्य है, जिसका चित्रण व्यासजी ने 'धर्ममय' और 'मन्युमय' महाद्रुमों के प्रतीक द्वारा किया है। इतिहास के एक युग का यह सत्य जिन दो जीवन मूल्यों के मध्य भीषण एवं विध्वंसकारी टकराव का आख्यान करता है, उस संघर्ष की हृदय-विदारिणी गूंज प्रत्येक युग में प्रगतिशील मानव व राष्ट्र को सुनाई पड़ती रही है। वर्तमान काल में, जब विश्व इक्कीसवीं शताब्दी में प्रवेशार्थ उद्यत और उद्यमशील है, इन जीवन मूल्यों के संकट व संघर्ष की टंकार आज भी श्रव्य है, और विवेकशील मानव नेतृत्व तदर्थ ही भावी समर के पूर्वाभास में भीत और त्रस्ताकुल है।

युद्ध के कठोर यथार्थ की अत्यन्त विस्तृत और मानवीय भूमिका में वेदव्यास ने मानव अस्तित्व के महनीय मूल्य के प्रश्न को लेकर मानव-जीवन की सप्रयोजनता और निष्प्रयोजनता की गूढ़ समस्या के समाधान प्रस्तुत करने का महत्त प्रयास किया है। यदि साहित्य जीवन की समीक्षा है तो मानव-अस्तित्व और अस्मिता की दृष्टि से यह विवेच्य है कि क्या मानव जीवन का कोई प्रयोजन है, यदि है तो वह क्या है, और क्या उस प्रयोजन सिद्धि में मनुष्य स्वतन्त्र है? या, मानव जीवन एक निष्प्रयोजन प्रवाह मात्र है जिसमें उतार

चट्टान की कटु मधु अनुभूतियाँ हिलोरे लेती हैं, जिसमे बहाव क हर टेढ़े मेढ़े मोड़ पर निराशा के थपेडा मे त्याग के साथ साथ अपाशा की किञ्चित् धूमिल धवलता का भी दर्शन होता है और बिसर जाता है, और मानव पुरजोर प्रयत्नो के पश्चात् भी अपने आपको विधि द्वारा नियन्त्रित, निबल और निस्सहाय इकाई मात्र अनुभव करने लगता है। क्या मनुष्य स्व जीवन निर्माण मे स्वत त्र है या परतन्त्र? मानव मेधा के उन्मेष के ऊषाकाल से ही चुनौति भरा यह प्रश्न उसकी प्रज्ञा से समाधान की मानवोचित माग करता रहा है। प्रत्येक युग के दार्शनिको, साहित्यकारो, वैज्ञानिको, कलाकारो और चिन्तन शील मनुष्यो के चिद्गगन मे इस प्रश्न की विद्युत्-कौंध का पलरा पडा है। वेदाचार्यों और औपनिषदिक ऋषियो ने भी इस सम्बन्ध मे मननीय चिन्तन प्रस्तुत किया है। भले ही वह चिन्तन इस चुनौति के अन्तिम समाधान के रूप मे मान्य न हो, पर जिस गहराई से मनन और मन्थन के उपरान्त उन्होने स्वानुभवजन्य चिन्तन सृष्टि की है, वह भावी विचार हेतु एक ठोस धरातल और यथेष्ट दिशा का मूल्यवान् निरूपण करती है। महाभारत मे भी इस प्रश्न की स्पष्ट झलक के साथ इसके समुचित समाधान हेतु वेदव्यास द्वारा किये गये गम्भीर मानवीय और साहित्यिक प्रयास का दर्शन होता है, जिसे भारतीय मनीषा और ऋतुम्भरा प्रज्ञा ने शास्त्रीय गौरव और औपनिषदिक गरिमा की पावनता से मण्डित किया है। वस्तुतः ही, महाभारत एक कुरुक्षेत्र के भीषण सग्राम मात्र का आकलन न होकर मनुष्य जीवन को तथा जीवन मूल्यो के संघर्ष को समग्र दृष्टि से देखने परखने और उसमे अन्तर्निहित जीवन के गहरे और व्यापक अर्थ का गवेषणात्मक उद्घाटन करने वाला सर्वसमय महाकाव्य है। सारत महाभारत भारतीय सामाजिक जीवन और संस्कृति के इतिहास के साथ साथ मानव मात्र के जीवन मूल्यो और अन्तर्द्वन्द्वो का सार्वकालिक काव्य दर्पण भी है। सर्वोपरि तथ्य तो यह है कि महाभारत सत्यनिष्ठ और संघर्ष शील मानवता के जीवन प्रवाह का काव्यमय गंगावतरण है।

जीवन मूल्यो का संघर्ष तीन चरण

महाभारत के घोर ऐतिहासिक महायुद्ध की पूर्वपीठिका के सम्यक आलोडन से प्रमुख घटनाओं के मूल म क्रियाशील मानव दृष्टि तथा दृष्टि वविध्य से उत्प्रेरित विचार एवं व्यवहार शृखलाओ के अनुसन्धान मूलक समालोचन से, तथा घटना चक्रो को गति प्रदान करने वाले प्रधान चरित्र नायको के वैज्ञानिक मनोविश्लेषण से यह प्रतीत होता है कि महाकाव्य मे चित्रित मानव जीवन मे मूल्यो के संघर्ष के इतिहास का तीन प्रमुख चरणो म विभाजित किया जा सकता है। प्रथम चरण का आदि बिन्दु पाण्डु के निधन

'नाश्रोत्रिय श्रोत्रियस्य सारथि रथिन सखा।
नाराजा पार्थिवास्यपि सखिपूर्वं किमिष्यते ।।'

द्राणाचार्य को इस अनपेक्षित उपेक्षा और अपमान से असह्य धक्का लगा और विदीर्ण हृदय और वेदना से वे उल्टे पाँव लौट गये। हस्तिनापुर में जाकर भीष्म के आग्रह से उन्होने पाण्डवो और कौरव राजकुमारो को धनुर्वेद का सांगोपांग अभ्यास कराया और जब उनके शिष्य शस्त्रास्त्रविद्या मे निपुण हो गये तब उन्होने गुरु दक्षिणा की मांग रखी कि पृषत के पुत्र राजा द्रुपद को जीत कर मेरे पास जीवित लाओ। पाण्डवों ने भीषण आक्रमण किया और भीम और अर्जुन ने उन्हें परास्त करके बान्ध कर गुरु चरणों मे शीघ्र प्रस्तुत किया। तब द्रोण ने द्रुपद को शालीनता से, परन्तु प्रतिशोध भरे शब्दों मे कहा—'राजन्! मैं एक बार पुनः तुमसे मैत्री हेतु विनय करता हूँ। पहले तुमने राजा न होने के कारण मुझे मित्रता के अयोग्य समझा था, अब गङ्गा के दक्षिण का राज्य तुम करो और उत्तर का राज्य मैं रखूँ।'[1] द्रुपद को स्वीकारना पड़ा, पर दोनो की मैत्री मे अपमान का आरोपण था, स्वेच्छा का माधुर्य नहीं।

द्रुपद इस प्रकार चिन्ता और इच्छा से आक्रान्त हो गये कि उनके एक ऐसा पुत्ररत्न पैदा हो जो द्रोण का प्रतिकार कर सके। मात्र क्षात्र बल को अपर्याप्त जान कर द्रुपद ने ब्रह्मतेज की अपेक्षा की।[2] कल्माषपाद राजा के नगर के समीप वाले आश्रम मे याज और उपयाज ब्रह्मनिष्ठ, तपोनिधि एवं अत्यन्त मेधावी मन्त्रवेत्ता ब्राह्मण थे। उपयाज के मना कर देने पर उसके बड़े भाई याज ने द्रुपद राजा के मनोरथ को पूरा करने हेतु विधिवत् यज्ञ किया। हवन के पूर्ण होने पर याज ने रानी को बुलाया और कहा कि 'तुम शीघ्र ही यह अभिमन्त्रित हविष्य ग्रहण करो, एक कन्या और एक पुत्र तुम्हें प्राप्त होगा।' रानी ने कहा—'ब्राह्मण देव! इस समय मेरे मुह मे दिव्य गन्ध की वस्तुएँ लगी हुई हैं। अङ्गो को अङ्गराग से अनुरञ्जित किया गया है, इसलिए स्नान किये बिना मैं यज्ञ का हविष्य कैसे ग्रहण कर सकती हूँ। आप थोड़ी देर ठहरिये।' याज ने कहा—'तुम आओ, या न आओ, कुछ हानि नहीं। मैं अभिमन्त्रित हविष्य अग्नि मे छोड़ता हूँ, यजमान की इच्छा अवश्य पूर्ण होगी।' आहुति छोड़ दी गई। तत्क्षण अग्नि के समान तेजस्वी, देवताओं के समान सुन्दर किरीट मुकुटधारी, उत्तम खड्ग, कवच, बाण धारण किये एक कुमार घोर गर्जना करते हुए यज्ञ कुण्ड की अग्नि मे से प्रकट हुआ। उसी समय यह आकाशवाणी भी हुई कि द्रोणाचार्य की मृत्यु इसी कुमार द्वारा होगी। इसका

1 सम्भवपर्व 137 70
2 सम्भवपर्व 137 7.

नाम धृष्टद्युम्न पड़ा। देखते-देखते उसी काल म यज्ञ की अग्नि से एक श्याम वर्णा, विद्युत् तुल्य कांति से समन्वित, रूप गुण और सौंदर्य की मूर्ति भी प्रकट हुई। यही द्रुपद सुता होने से द्रौपदी, श्यामवर्णा होने से कृष्णा और यज्ञ से प्रकट होने से याज्ञसेनी कहलाई। उसके प्रकट होने पर भी एक आकाशवाणी हुई कि यह स्त्री रत्न क्षत्रिय कुल के नाश का कारण बनेगी, देवताओं का काय सिद्ध होगा।

द्रौपदी के स्वयम्वर महोत्सव म क्षत्रियवंश विनाश का बीजांकुरन स्पष्ट हो गया। इस उत्सव पर आने वाले महत्त्वपूर्ण व्यक्ति अनेक थे जिनम साम्ब, जरासंध, शिशुपाल, अनिरुद्ध, दु शासन, दुर्योधन, कर्ण, श्री कृष्ण, बलराम, सात्यकि, शल्य, भगदत्त, रुक्मी, उद्धव, अश्वत्थामा, भीष्म, शकुनि आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। महाराजा द्रुपद ने सबका यथोचित एव भव्य स्वागत किया। पराक्रमी वीरो के अतिरिक्त प्रतिष्ठित नागरिकों और सामान्य जन-समूह की विद्यमानता स्वयम्वर की गौरव गरिमा को चरमता प्रदान कर रही थी। सुरभित और सुरम्य वस्त्रालङ्कारों से विभूषित द्रौपदी सुवर्णमयी जयमाला हाथ मे लिय रङ्गशाला मे आई। उसके भाई धृष्टद्युम्न ने घोषणा की कि जो सत्कुल सम्पन्न, रूप और बल से युक्त पुरुष यहा रखे धनुष की प्रत्यञ्चा पर चढा कर उन पाँच बाणो से, मुक्त आकाश म, घूमते हुए यन्त्र मे स्थित मत्स्य को, नीचे जल म उसके प्रतिबिम्ब को देख कर बीन्ध देगा उसी को द्रौपदी जयमाल पहना देगी। इस उच्च घोषणा के साथ स्वयम्वर आरम्भ हुआ। दुर्योधन, शल्य, अश्वत्थामा आदि तो धनुष पर प्रत्यञ्चा ही न चढा सके। वे धनुष के झटके से पृथ्वी पर गिर पड़े। पर कर्ण ने पलक भर म धनुष पर डोरी चढा ली, बाण भी चढा लिया और सब को लगा कि लक्ष्य कटकर धरती पर आ गिरने वाला है। इसी बीच द्रौपदी का उच्च शब्द गूज उठा—'मैं सूतपुत्र का कदापि वरण नहीं करूँगी।' खेद के विषादमय हास्य के साथ कर्ण ने धनुष वही रख दिया और बिना शरानुसंधान किये, यह अपमान की सीठ म दबाये अपने स्थान पर लौट बैठा। बहुत से राजे महाराजे आये पर सफल न हुए। चेदिराज के राजकुमार शिशुपाल का प्रयत्न भी असफल गया, पृथ्वी पर उसके घुटने टिक गये, गिरते गिरते बचा। तथैव बलशाली जरासंध और शाल्व भी हँसी के पात्र बने। जब सार क्षत्रिय वीर थक गये तो ब्राह्मणो की मण्डली म से छद्मवेशी अर्जुन उठ खड़े हुए। ब्राह्मण उदास और भारी हृदय वाले हो गय कि जहाँ बड़े बड़े धनुधर सफल न हो सके वहाँ एक ब्राह्मण भला क्या कर लेगा। परन्तु देखते ही देखते क्षण भर म अर्जुन ने धनुष पर प्रत्यञ्चा डाल कर शरानुसंधान से फुर्ती से लक्ष्य वेधन

कर दिया और वह कृत्रिम मछली चक्र यन्त्र के भीतर से धरा पर आ गिरी द्रौपदी ने जयमाल विजेता के गले मे डाल दी।

छद्मवेश मे छिपे अर्जुन को कृष्ण ने पहिचान लिया। बलराम को उसका सकेत दे दिया। दोनो प्रसन्न थे, परन्तु अन्य क्षत्रिय वीरो ने द्रुपद को दडित करने हेतु हथियार उठा लिये क्योकि ब्रह्महत्या वे नही करना चाहते थे। दुर्योधन, कर्ण आदि के आक्रामक प्रहार को भीम और अर्जुन ने पल भर म निरस्त कर दिया। शल्य भीम के प्रहार से पृथ्वी पर गिर पडा। कृष्ण के बीच बचाव से स्थिति मे साम्य की प्रतिष्ठा हुई और द्रौपदी को लेकर भीम और अर्जुन अपने विश्राम स्थान पर चले गये। वे एक कुम्हार के घर पर रुके हुए थे। कुटिया के भीतर प्रवेश करने के पूर्व अर्जुन ने पुकार कर कहा, 'माँ! देखो, आज हम कितनी अच्छी चीज लाये हैं।' भीतर से ही माँ कुन्ती की आवाज आई, 'बेटा, जो लाये हो उसे पाँचो भाई बाँट लो।' कुन्ती के मिथ्या न होने वाले वचनो ने द्रौपदी को पाँचो पाण्डवो की पत्नी बना दिया।

इस बात से महाराजा द्रुपद असमजस म पड गये, धम सकट आ गया। महर्षि वेदव्यास ने इसका समाधान प्रस्तुत किया द्रौपदी के पूर्व जन्म के दृष्टात द्वारा।

द्रौपदी के विवाह का समाचार सवत्र फैल गया। सब लोग जान गये कि कुन्ती समेत पाँचो पाण्डव लाक्षागृह की प्रचण्डाग्नि से बच निकले हैं और वे ही ब्राह्मण वेश मे द्रौपदी को स्वयम्वर मे जीत ले गये थे। हस्तिनापुर मे इस सूचना के प्रति द्विविध प्रतिक्रिया हुई। जिसकी समीक्षा सघर्ष के द्वितीय चरण मे की जायेगी।

जीवन मूल्यो का सघर्ष—प्रथम चरण एक विवेचन

पाण्डु सम्राट के वन मे निधन के पश्चात् विधवा सम्राज्ञी कुन्ती अपने पाँचो पाण्डव राजकुमारो सहित जब हस्तिनापुर मे लौटी, तब से लगाकर द्रौपदी स्वयम्वर तक के मध्यवर्ती काल मे अनेक ऐसी घटनाएँ हुई जिनमे दो परस्पर विरोधी जीवन मूल्यो का सघर्ष स्पष्ट दिखाई देता है, परन्तु इस सघर्ष की प्रखरता के मूल्याकनार्थ केवल तीन प्रमुख घटनाओ की समीक्षा पर्याप्त प्रतीत होती है। प्रथम चरण मे तो यह सघर्ष एक तरफा लगता है क्योकि दुर्योधन प्रणीत जीवन दृष्टि और मूल्य आक्रामक रूप लेकर व्यक्त होते है जबकि युधिष्ठिर प्रणीत जीवन आदर्श और मूल्य प्रशान्त मानवीयता-जनित रक्षात्मक रूप की मूक अभिव्यक्ति लेकर आते हैं। भीम, अर्जुन आदि को परन्तु पता ही नही है कि धृतराष्ट्र के पुत्र और उनके सहायक उनके प्रति निरन्तर

की दृष्टि रखते हुए, उन्हें यह जानने की आवश्यकता ही नहीं थी कि उनके चचेरे भाई उनके प्रति क्या भाव रखते हैं। वे तो सहज बालोचित स्वभाव से सबके संग क्रीड़ा करते थे, परन्तु दुर्योधन आदि भीम के अदम्य साहस और अतुल बल के प्रति द्वेष जन्य ईर्ष्या और शत्रुता की बुद्धि रखने लगे थे—'दुष्टभावमदर्शयन्' (सभा पर्व 127 25)। इतना ही नहीं, भीम की किसी प्रकार हत्या करके, अन्य पाण्डवों को छल से बंद करके, 'निगृह्य सनिगृह्यताम्', दुर्योधन पृथ्वी पर निष्कण्टक राज्य करने की महत्त्वाकांक्षा रखता था—'प्रशाशिष्ये वसुन्धराम्' (सभा पर्व, 127 29 और 30)।

इस मत्सर पूर्ण महत्त्वाकांक्षा ने ही दुर्योधन को इस महाकाव्य का खल नायक बनाया है। भीम को विष देकर मार डालने का षड्यन्त्र अमानुषीय और अन्यायपूर्ण बुद्धि का निर्मल मानवीयता और सहज जीवन जीने की निसर्ग पूर्ण अस्तित्व बुद्धि पर अवैध आक्रमण था। भीम आदि को तनिक मात्र भनकार ही नहीं थी कि खेल के बहाने दुर्योधन का खलत्व भीम की विष द्वारा हत्या करने पर तुला हुआ है। विष देने के पश्चात् जब भीम की देह में जहर सर्वत्र फैल गया और वह मरणासन्न सा गहन निद्रा की अचेतन अवस्था में लुढ़क गया तो स्वयं दुर्योधन द्वारा भीम को पुरजोर बांध कर गङ्गा के भीषण प्रवाह में मरणार्थ फेंक दिया जाना सत्ता निर्मित जीवन मूल्य का स्वतन्त्र जीवनयापन जन्य जीवन मूल्य पर जघन्य प्रहार था। सत्ता जब स्वार्थपरक हाथों में केन्द्रित हो जाती है और जब वे हाथ यह मिथ्या अनुभव करने लगते हैं कि सत्ता चली जायगी, तो वे अपनी पूरी शक्ति और सामर्थ्य के साथ उन पर आक्रमण करते हैं जिनसे उनकी सत्ता विनष्टि का भय उत्पन्न होता है—भय चाहे मन गढ़ंत और झूठा ही क्यों न हो। दुर्योधन के पास सत्ता थी, राज्याधिकार था और भीम के पराक्रम से उसके मन में मिथ्या भीति का संचरण हुआ कि पाण्डव उसकी राज्य सत्ता का अपहरण कर लेंगे। पूरे महाभारत में एक भी स्थल ऐसा नहीं है जिसमें दुर्योधन का यह भीति भाव प्रमाणित हो सकता हो। परन्तु काल्पनिक भय जब दुर्योधन के अन्तःकरण में घर कर गया तब भीम को विष द्वारा मारने का यह प्रसंग अमानवीय षड्यन्त्र सत्ता का स्वतन्त्रता पर प्रथम भीषण प्रहार था। इसी षड्यन्त्र ने जीवन मूल्यों के संघर्ष को जन्म दिया। दुर्योधन इस संघर्ष का जनक था।

इस सम्बन्ध में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और मननीय बात तो यह है कि जब संयोगवश भीम उस कालकूट विष से मरा नहीं और वह गङ्गानिवासी सर्पों की जल नगरी से जीवित लौट आया तो युधिष्ठिर ने भीम के मुख से दुर्योधन की काली करतूत का भंडाफोड़ सुन कर, उसे उस षड्यन्त्र के प्रति अपना मुंह

साथ विहार करते समय मारे गये । मरते मरते ऋषिसूनु ने राजा पाण्डु को श्राप दे दिया कि उसकी उसी समय मृत्यु हो जायेगी जब वह अपनी पत्नी साथ समागम करेगा । पाण्डु के उस समय तक कोई सन्तान नहीं थी, अतः वह इस श्राप से अत्यन्त ही व्यथित हो गया । अन्य कोई उपाय न देखकर कुन्ती ने पाण्डु को दुर्वासा प्रदत्त पुत्रदायी मन्त्र से अवगत कराया । पाण्डु की स्वीकृति से कुन्ती के क्रमशः तीन पुत्र हुए—युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन — यमराज, वायु और देवराज इन्द्र से । पाण्डु की दूसरी पत्नी माद्री थी, पाण्डु के अनुरोध पर कुन्ती ने पुत्रदायी मन्त्र माद्री को दिया और अश्विनीकुमारों से उसे पुत्रद्वय नकुल और सहदेव—की प्राप्ति हुई । तत्पश्चात् संयम की मर्यादाओं के विच्छिन्न होने पर माद्री संग विहार के समय पाण्डु की जीवन लीला समाप्त हो गई । विहार विलाप बन गया । श्राप फलित हुआ पाण्डु के निधन में । उसका स्थान उसके पुत्र पाँच पाण्डवों ने लिया । इस समय तक धृतराष्ट्र के कोई सन्तान नहीं हुई थी । दुर्योधन आदि सभी पुत्रों का जन्म बाद में हुआ था ।

पाण्डवों का जन्म उस समय हुआ था जब पाण्डु, कुन्ती और माद्री के साथ, वन में मृगया विहार कर रहे थे । पाण्डु की अनुपस्थिति में हस्तिनापुर की शासन डोर धृतराष्ट्र सम्हाल रहे थे विदुर की सहायता से, जिन्हें राजनीति विशारद समझ कर, भीष्म ने मन्त्री बनाया था । पाण्डु की मृत्यु के पश्चात् माद्री तो पति के शव के साथ चिता पर सती हो गई परन्तु कुन्ती पाँचों पुत्रों सहित, वन ही में उनकी सम्यक् प्रारम्भिक शिक्षा सम्पूर्ण हो जाने पर, हस्तिनापुर लौट आईं । नगरवासियों में प्रसन्नता की लहर दौड़ गई । परन्तु दुर्योधन को यह अच्छा नहीं लगा क्योंकि पाण्डु पुत्र युधिष्ठिर सबसे बड़े थे और वयस्क होने पर उन्हें ही राज्यारोहण का अधिकार मिलने वाला था । स्थिति और अधिक असह्य हो गई जाता तर मे दुर्योधन के लिये, जब पाण्डवों की सात्विक शालीनता, ऋषिकुमार सेवित विद्वता और अद्भुत पराक्रमशीलता उनकी अप्रतिम लोकप्रियता की भूमिका में जन कण्ठ द्वारा अभिव्यक्ति प्राप्त करने लगे ।

स्वभाव से ही महत्वाकांक्षी, मात्सर्यपूर्ण और मदोन्मत्त होने से तथा धृतराष्ट्र का सबसे बड़ा पुत्र होने के कारण दुर्योधन अपने को ही राज्य का सही अधिकारी मानता था । अतः दुर्योधन के हितैषियों ने यह प्रचार करना शुरू किया कि भले ही युधिष्ठिर का जन्म पहले हुआ हो और दुर्योधन का बाद में, पर दुर्योधन अपनी माता के गर्भ में पहले ही आ गया था । यही नहीं, राज्य के वास्तविक और वैध अधिकारी तो धृतराष्ट्र ही हैं, परन्तु उनकी जन्मान्धता के कारण ही राज्यारोहण पाण्डु चाचा का हुआ था । अतः दुर्योधन धृतराष्ट्र का वरिष्ठ पुत्र होने के कारण, पाण्डु महाराज की मृत्यु के उपरान्त, दुर्योधन

ही राज सिंहासन और राज मुकुट का सही स्वामी है। वस्तुतः दुर्योधन अपने राज्याधिकार के दौर्बल्य से भली भाँति परिचित था, इसलिए उसे कृत्रिम और अमानुषीय साधनों का पाण्डवों के विरोध में प्रयोग करना पड़ा था। बाल्यावस्था से ही उसके मानस में राज्य सत्ता में पूर्ण स्वामित्व का आकर्षण गहरी जड़ें ग्रहण कर चुका था क्योंकि पाण्डव तो अपनी कुमारावस्था में अपने माता पिता के साथ वन में ही रहे थे, उनका तो जन्म भी वहीं हुआ था और यह भी महाराजा पाण्डु से नहीं। परन्तु दुर्योधन का बाल्यकाल तो राज्य वैभव और सत्ता के प्राचुर्य में ही पला था। जब कुन्ती पाँचों पाण्डवों सहित ऋषियों द्वारा हस्तिनापुर में पहुँचा दी गई, और भीष्म आदि ने उनका भव्य स्वागत किया, तब ही से दुर्योधन के चित्त में पाण्डव विरोधी शल्य का बीजारोपण हो गया। ज्यों ज्यों बाल पाण्डवों की लोकप्रियता बढ़ने लगी त्यों-त्यों दुर्योधन की ईर्ष्या और द्वेष बुद्धि भी उनके प्रति प्रगाढ़ होने लगी। भीम के बालोचित पराक्रम और शौर्य तो उसके आँख की किरकिरी बन गया। 'दिनदीकरण यार हृदि-शल्यमिवार्पितम्' दुर्योधन स्वयं वीर और बली था, परन्तु भीम की शक्ति के सामने भाइयों समेत दुर्योधन का पौरुष फीका लगता था। इस प्रकार के मनोवैज्ञानिक तन्तुओं से निर्मित दुर्योधन के बाल मानस में भीम विरोधी द्वेष इतना बढ़ गया कि वह उसे मार डालने के षड्यन्त्र करने पर उतारू हो गया। उसने सोचा कि भीम को मार देने के पश्चात् वह उसके अन्य सभी भाइयों को कैद करके निष्कण्टक राज्य करेगा। अतः छल कपट से भीम की हत्या करने के घृणित उद्देश्य से दुर्योधन ने गंगा नदी के किनारे एक अत्यन्त रमणीय क्रीड़ा गृह बनवाया और पाण्डवों को वहाँ स्नान क्रीड़ा एवं प्रीतिभोज हेतु निमन्त्रित किया। हिलमिल कर खलने का रोचक स्वांग हुआ, सब खूब खेले। बाद में भोजन भी अत्यन्त प्रेम भाव के प्रदर्शन के साथ खाया खिलाया गया। दुर्योधन ने छल से भीम के मिष्ठान्न में 'कालकूट' नामक घोर विष मिला दिया था जिससे भीम के देह में उसका प्रभाव व्याप्त हो गया और वह राजोद्यान में उस क्रीड़ा गृह में सो गया। सब खेलते-कूदते वहाँ से घर को और लौट चले, परन्तु दुर्योधन ने लता पताओं से भीम को मजबूती से बाँध कर एक ऊँचे स्थान से गंगा प्रवाह की भीषणता में फेंक दिया और किसी को उसकी तनिक भी खबर [illegible]। परन्तु [illegible] में भीम की मृत्यु नहीं, जीवन लिखा था। कालकूट विष से भरी भीम की देह पर गंगा धारा में बहुत [illegible] विषधर नागों ने आक्रमण किया। 'विषस्य विषमौषधम्' न्याय से भीम का [illegible] शरीर [illegible] फिर उठा। उन [illegible] ने उसके शरीर से दूर किया, उनका [illegible] बार [illegible]। [illegible] के [illegible] अनुसार [illegible]

भर पट अष्टकुण्ठी अमृत पिलाया और वहाँ के दिव्य सलिल म स्नान कराया जिसस भीम को सहस्र हाथियो का बल सहज ही मिल गया। निस्सदेह, जब मनुष्य धर्म का सही अवलम्बन लेता है तो प्रकृति की शक्तियाँ भी उसकी सहायता करने लगती हैं।

नागो ने भीम को गगा तट पर पहुँचा दिया और हर्षोल्लित भीम घर का लौटा। इस बीच पाण्डु भ्राताओ के राजभवन मे पहुँचने पर भीम की अनुपस्थिति ने सब को दुर्योधन की षड्यन्त्रकारिता से शकाकुल और विपदा ग्रस्त कर दिया। कुन्ती के दुख और घनीभूत वेदना का तो कोई आरापार ही नही रहा। परन्तु ज्योही भीम को घर सजीव लौटते देखा तो सुखाश्रुओ से पाण्डवो न अपना सौभाग्य मनाया। कालकूट विष और नागलोक की रहस्योद्घाटी घटना से पाण्डव भाइयो और उनकी माता को दुर्योधन के मनोमालिन्य का पता चल गया। पर युधिष्ठिर ने सब को आदेश दिया कि दुर्योधन की छल-पूर्ण साजिश को गोपनीय ही रखा जाये। उधर अपने प्रयास मे असफल दुर्योधन ने पाण्डवो की हत्या हेतु एक अन्य षड्यन्त्र फिर रचा। उसने वारणावत नामक स्थान म एक अन्य लाक्षागृह पुरोचन नामक महाशिल्पी से इस उद्देश्य स बनवाया कि उसमे कुन्ती समेत पाचो पाण्डव निवास करते समय एक रात सदा के लिए अग्निकुण्ड म भस्मीभूत हो जाये। दुर्योधन ने अपने पिता सम्राट धृतराष्ट्र को इस बात पर राजी कर लिया कि वे पाण्डवो को माता सहित देशाटन के लिए अनुरोध करें ताकि उन्हे कुछ उन्मुक्त वातावरण की आनन्दानुभूति हो। विदुर को इस षड्यन्त्र की दुर्गन्ध लग गई और उसन गुह्य ढग से युधिष्ठिर को सावधान ही नही कर दिया, परन्तु लाक्षागृह म आग लग जाने की स्थिति म वहाँ से बच निकलने हेतु वहाँ एक सुरग का निर्माण करवा दिया जिसका पता न तो पुरोचन को, न दुर्योधन को, और न ही किसी अन्य को चल सका। एक रात, एक भिखारिन अपने पाँच पुत्रो सहित उस लाक्षागृह म निशा निवास हेतु चुपके चुपके प्रवेश कर गई, दुर्दैव से उसी रात्रि को दुर्योधन के कर्मचारियो ने लाक्षागृह में आग लगा दी। उस भीषण अग्नि मे भिखारिन समेत उसके पाँचो बेटे जल कर भस्म हो गये। परन्तु भीम के पराक्रम से उस गुप्त सुरग द्वारा पाँचो पाण्डव और कुन्ती भाग निकले। उन दग्ध अस्थि पिंजरो को देख कर दुर्योधन, कर्ण, दुशासन आदि सब आश्वस्त हो गये कि उनके प्रतिद्वन्द्वी पाण्डवो का सर्वथा नाश हो गया है और अब दुर्योधन निर्विघ्न राज्य कर सकेगा। पाण्डवो के जल कर मर जाने की बात जन शोक का कारण बन गई, अत धृतराष्ट्र ने भी राज्य सभा मे अपनी भाभी और भतीजो के निधन पर शोक प्रकट किया। वस्तुत धृतराष्ट्र अपने मन मे छद्म सन्तोष

और शीतलता का अनुभव कर रहा था क्योंकि अब उसके पुत्र निष्कण्टक दीर्घ काल तक राज्य करते रहेंगे। भीष्म और विदुर अत्यन्त दुःखी हुए और राज्योचित विधि से मृत पाण्डवों का क्रिया काण्ड किया। परन्तु जब उन्हें गुप्त समाचार मिले कि पाण्डव, माता कुन्ती सहित, लाक्षागृह की भीषणाग्नि से बच निकले हैं और अभी जीवित हैं, तो उन्हें अपार शान्ति की अनुभूति हुई और उनका मन निश्चिन्त और हल्का हो गया।

अग्नि काण्ड से बच निकलने के पश्चात् गंगा पार करके वे वन प्रदेश में दक्षिण की ओर बढ़े। मार्ग में दादा महर्षि व्यास मिले और उनके परामर्श अनुसार पाण्डव ब्राह्मण वेश में विचरण करने लगे। हिडिम्ब नामक राक्षस का मार्ग में भीम ने वध किया, उसकी बहिन हिडिम्बा से विवाह किया जिससे घटोत्कच नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। फिर एकचक्रा ग्राम में जिस ब्राह्मण के घर अतिथि होकर रुके उसके प्राणों की रक्षा हेतु भीम ने बकासुर का वध किया। इस घटना से समूचा गाँव उस असुर के भय और आतंक से मुक्त हो गया और पाण्डवों के प्रति समस्त ग्रामवासी प्रेम और ऋण भाव रखने लगे। भिक्षावृत्ति से निर्वाह करते करते वहाँ कई महीने बीत गये। एक बार उन्हें यह समाचार मिला कि पान्चाल नरेश की पुत्री द्रौपदी का स्वयम्वर होने वाला है और गाँव के अनेक ब्राह्मण दान दक्षिणा प्राप्ति के उद्देश्य से स्वयम्वरोत्सव देखने पान्चाल जा रहे हैं। वे भी ब्राह्मण-वेश में वहाँ पहुँचे। इस स्वयम्वर में कौरव राजकुमार दुर्योधन, दुःशासन आदि भी कर्ण सहित आये हुए थे।

यज्ञोत्पन्न द्रौपदी अनिन्द्य रूप लावण्य की अक्षय राशि थी। उसके अद्भुत सौन्दर्य और यज्ञाग्नि से उत्पन्न होने की कथाओं से मुग्ध और आश्चर्यान्वित अनेक युवराज एवं अन्य जन स्वयम्वर में आये थे। द्रौपदी यज्ञ से उत्पन्न हुई, यह बात पुरानी है। एक बार द्रुपद राजा की राज्य सभा में द्रोण नामक ब्राह्मण उपस्थित हुए, जिन्होंने परशुराम से दिव्य अस्त्र शस्त्र और धनुर्विद्या प्राप्त की थी और जिन्होंने बाल्यकाल में महाराज द्रुपद के साथ गुरुकुल में एक साथ विद्या अध्ययन किया था। उन दिनों दोनों में प्रगाढ़ मैत्री और घनिष्ठता थी और द्रुपद ने उन्हें कहा था कि राज्यारोहण के बाद वह द्रोण का अन्तरंग साथी सम्राट रहेगा। परन्तु द्रोणाचार्य की सभा में उपस्थिति पर द्रुपद ने कोई विशेष सत्कार नहीं किया, इतना ही नहीं बाल्यकालीन वचनों के स्मरण कराने पर द्रुपद ने कहा कि मैत्री बराबर वालों में होती है, असमानता कभी भी मैत्री का आधार नहीं हो सकता—'जो श्रोत्रिय नहीं, वह श्रोत्रिय का, जो रथी नहीं वह रथी का, और जो राजा नहीं वह राजा का सखा नहीं हो सकता अब पहले की बात याद करना व्यर्थ है।'

को सी लेने के लिये कहा—'तूष्णी भव' (सभापर्व 128 34)। यदि स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करना है, तो नीलकण्ठ बनना पड़ेगा। युधिष्ठिर की प्रतिक्रिया शान्तिप्रियता का द्योतन करती है। हिंसा और दुष्टता, दौर्बल्य की खाल से निकलने वाली वासनाएं हैं, जो सत्ता का आधार पाकर घातक और घिनौना प्रहार करके तृप्ति की अनुभूति करती है। यह है दुर्योधन की दृष्टि जिससे उसके बाल्यकाल से ही षड्यन्त्रकारी दुर्व्यवहार और परपीड़क जीवन मूल्यों की अमानुषीय एव अन्यायप्रद सृष्टि की शुरुआत हो गई। वेदव्यास ने इन दृष्टियों को धर्ममय और मन्युमय की सज्ञाओं से ज्ञापित किया है।

भीम का जीवित लौट आना दुर्योधन के लिए दु सह्य हो गया। उसे शीघ्र मार डालने के लिए उससे भी ज्यादा खतरनाक और अत्यन्त अमानवीय षड्यन्त्र की सरचना दुर्योधन ने की। धृतराष्ट्र को भी अपने साथ में रखा। कर्ण आदि अन्य साथियों ने दुर्योधन का समर्थन किया। लाक्षागृह दहन की षड्यन्त्रकारिता म दुर्योधन की स्वार्थान्धता, सत्तापरक निरकुशता एव भौतिकवादी वैयक्तिक सुखलोलुपता का दर्शन होता है। लाक्षागृह की प्रचण्डाग्नि से बच निकलने के बाद कुन्ती समेत पाण्डवो का, स्वतन्त्र जीवन जीने की सहज अभिलाषा से, किसी से बिना कुछ कहे वन प्रदेश की ओर चले जाना उनकी शान्तिप्रिय अस्तित्व-वादी जीवन दृष्टि का ही स्पष्ट उदाहरण है। एक तरफ सत्तावादी जीवन दृष्टि और उग्रताजन्य अपहरणवादी और आक्रमणकारी जीवन मूल्यो की सृष्टि ह, दूसरी तरफ समत्व पोषिणी, जीवन स्वातन्त्र्य रक्षिणी जीवन दृष्टि और कर्त्तव्य परायणताजन्य सर्वहितकारी शान्तिप्रिय मानव वादी जीवन मूल्यो की सृष्टि है। हिंसा, स्वार्थान्धता, क्षुद्रता और अहकार दुर्योधन बुद्धि के अन्तरग भाव है, तथा छल धोखा, कपट आदि के माध्यम से इनकी अभिव्यक्ति नित्य नये परिवेश मे होती है। स्वतन्त्रता, आत्म गौरव, स म्मान अस्तित्व और हृदय की विशालता युधिष्ठिर बुद्धि के अभिन्न और अविभाज्य लक्षण हैं जिनकी अभिव्यक्ति रक्षात्मक शान्तिप्रियता मे होती है। वस्तुत आत्मदौर्बल्य और हिंसाभिव्यक्ति सहधर्मी और सजातीय भाव हैं जो परावलम्बन का पोषण और स्वतन्त्रता का हनन करने वाले होते ह। आत्म बली, वीर और विश्वासी मानव स्वय स्वतन्त्रताप्रिय होते ह और दूसरो के स्वतन्त्र और श्रेष्ठ जीवन के प्रेरक एव प्रोत्साहक व्यक्ति होते है। दुर्योधन रक्षित कौरवो और युधिष्ठिर पोषित पाण्डवो के मध्य चल रहे प्रथम चरण के जीवन मूल्यो के सघर्ष का यही मूल स्वरूप था।

बकासुर की भीम द्वारा लोकहितकारी हत्या युधिष्ठिर के मानव-वादी जीवनस्वातन्त्र्य के तथ्य की ओर सकेत करने वाली घटना है। जिस ब्राह्मण के

घर मे अतिथि के रूप मे ब्राह्मण वेशधारी पाण्डव रहते थे, उसकी बारी बकासुर के पास जाने की आई। उस राक्षस के लिए बीस खारी अगहनी चावल का भात, दो भैंसे और एक मनुष्य, जो वह सब समान लेकर जाता है, भोजन के रूप मे ले जाना था। घर म करुण क्रन्दन मच गया क्योकि न तो उसके पास इतना धन था कि वह इतनी सामग्री एकत्रित कर सके, और न ही उस ब्राह्मण के चले जाने के बाद ऐसा कोई युवा था जो परिवार को भावी विनाश से बचा सके। माता कुन्ती के आदेशानुसार भीम बकासुर के पास सारी भोजन सामग्री लेकर पहुँचता है जिसका एकमात्र उद्देश्य है ब्राह्मण का हित सम्पादन और सम्पूर्ण नगर या सकटमोचन—'ब्राह्मणार्थे महत्कृत्य मोक्षाय नगरस्यच' (आदिपर्व 161 4)। यह है पाण्डवो की सर्वजन हितकारी जीवन दृष्टि और उनके हृदय की विशालता और अन्त करण की नि स्वार्थता।

अत जीवन मूल्यो के सघर्ष के प्रथम चरण म दो जीवन दृष्टियो की क्रीडा का दिग्दर्शन बीज रूप म हमारे सामने आता है। एक ओर क्षुद्र मन की सकीर्णता एव सत्ताधिकार की स्वार्थलोलुपता अन्य जीवन मूल्यो का मत्सर भरा मन्युमय सागर है, और दूसरी ओर भद्र मन की विशालता एव 'सर्वजन हिताय सुखाय च' भाव से उज्जनित जीवन मूल्यो या मानवीय गुणो से भरा धर्ममय क्षीर सागर है। यद्यपि इस चरण मे कौरवो की मन्युमयता और पाण्डवो की धर्ममय मानवीयता के बीच सीधे सघर्ष का प्रत्यक्षीकरण हमे नही होता, तथापि दुर्योधन की भीम पर घातक आक्रामकता का अत्यन्त घिनौना और अमानुषीय रूप दिखे बिना नही रहता। दुर्योधन के मन मे हिंसा है, सत्ता-लोलुपता है, पाण्डवो के प्रति विद्वेष है। भीम आदि के मन म न हिंसा है न सत्ता का लोभ, न किसी के प्रति द्वेष का भाव। दोनो गदाधर हैं परन्तु एक का गदाधारण सत्ता और शक्ति के दुरुपयोग का यन्त्र है जबकि दूसरे का केवल आत्मरक्षा और समाज के मगलमय जीवन का साधन। दोनो म गहरा अन्तर है, यही अन्तर जीवनमूल्यो के दो प्रमुख रूपो को दर्शाता है और आगे होने वाले नराधमता और नरोत्तमता के भीषण सघर्ष की आधारशिलाएँ रख देता है।

सघर्ष का द्वितीय चरण

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि द्रौपदी-स्वयम्वर महाभारत की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है। इससे जिन कुछेक तथ्यो का उद्घाटन हुआ उनसे महाभारत के घटना चक्र को एक नयी गति मिली और जीवन मूल्यो के सघर्ष को एक नया मोड। प्रथम बार धृतराष्ट्र, कौरव राजकुमारो और उन सभी जनो के समक्ष, जो इस बात से पूर्णतया आश्वस्त हो चुके थे कि वारणावत के लाक्षागृह दाह म कुन्ती समेत पाँचो पाण्डव जलकर भस्म हो चुके थे, यह सत्य उनके हृदय को

विदीर्ण कर गया कि द्रौपदी स्वयम्वर मे मत्स्य भेद करने वाला अन्य कोई नही स्वय अर्जुन ही ब्राह्मण वेश मे था। भीष्म, द्रोण आदि ने तो पाण्डवो का श्राद्ध तक कर दिया था। पाण्डवो के जीवित बच रहने के सत्य का उद्घाटन कौरवो के चरित्र और उनके जीवन मूल्यो को उजागर करने वाली कुन्जी सिद्ध हो गया।

इस नूतन सत्य से कौरव दल मे खलबली मच गई और वे पाण्डव विनाश एव मरण हेतु तरह तरह के मन्तव्य करने लगे। इस प्रतिक्रिया म दुर्योधन आदि के विचारो का दर्पणवत् दर्शन होता है। शकुनि ने स्पष्ट शब्दो मे कहा कि कुन्ती पुत्रो का शीघ्रातिशीघ्र नाश कर देना चाहिए— 'उत्सादनीया कौन्तेया' (आदिपर्व, 199 7), इसके पूर्व कि अन्य सभी राजा अर्जुन के नेतृत्व मे समवेत हो, पाण्डवो के वध की शीघ्र गुप्त व्यवस्था हमे कर लेनी चाहिए—

यावदत्वरता सर्वे प्राप्नुवन्ति नराधिपा ।
तावदेव व्यवस्याम पाण्डवाना वध प्रति ॥
आदिपर्व 199 7

शकुनि की बात सुन कर सोमदत्ति ने तो इससे भी ज्यादा भयकर बात कह दी- धिक्कार है हमारे जीवन और पुरुषार्थ को कि पाण्डव अभी तक जिन्दा हैं— 'धिगस्तु पौरुष तात म्रियन्ते यत्र पाण्डवा' (आदिपर्व 199 12)। धृतराष्ट्र ने भी इन्हीं का हार्दिक समर्थन करते हुए कहा, 'ओ मेरे लाडले ! मैं भी यही करना चाहता हूँ जिसकी तुम्हे अभिलाषा है, परन्तु मैं मेरी बात को विदुर के समक्ष नही रख सकता।

अहमप्येवमेवैतच्चिकीर्षामि यथा युवाम् ।
विवृतु नाहमिच्छामि त्वाकार विदुर प्रति ॥

दुर्योधन तो स्पष्ट कहता है कि कुन्ती के पुत्रो और माद्री के पुत्रो म फूट डाल कर पाण्डवो का दुर्बल और हीनात्मवान् कर देना चाहिए— 'कुन्तीपुत्रान् भेदयामो माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ' (आदिपर्व, 200 4), तत्पश्चात् 'भीम की गुप्त रूप स हत्या शीघ्र कर देनी चाहिए क्योकि वही उन सबम सर्वाधिक बली है।' (आदिपर्व 200 10)

भीमसेनस्य वा राजन्नुपाय कुशलैर्नरै ।
मृत्युर्विधीयता छन्नै स हि तेषा बलाधिक ॥

तात्पर्य यह कि धृतराष्ट्र के मन में पाण्डवो के प्रति मलिन भावना है, वह उन्हें हस्तिनापुर बुलाना नहीं चाहता, परन्तु काल की क्रीडा अत्यन्त दुर्विज्ञेय है। पश्चात जिसे अन्नदेव का राजा बनाया गया, दुर्योधन के सामने अपना हृदय

खोल कर रख दिया जब उसने प्रेमातुरोधपूर्वक कहा—

नहि साम्ना न दानेन न भेदेन च पाण्डवा ।
शक्या साधयितुतस्मात विक्रमेणैव ताञ्जहि ॥
आदिपर्व 201 20

'विक्रमेणैव' पराक्रम द्वारा ही 'ताञ्जहि' याने उन्हें मार दो ।

संक्षेप मे, दुर्योधन के हृदय मे एक भयकर ज्वालामुखी पर्वत गड़गड़ाहट करने लगा। येन केन प्रकारेण पाण्डवो का नाश अविलम्ब होना चाहिए। चाहे पारस्परिक फूट के कारण वे विनाश पथ गामी हो जाये, चाहे सर्वाधिक बली भीम की हत्या करके शेष पाण्डवो को जेल मे डाल कर उनका वैभव, कुबेर तुल्य खजाने और उनकी अस्मिता को छिन्न भिन्न कर दिया जाये। दुर्योधन की बुद्धि मे राजकीय सत्ता का एकाधिकार उपभोग, इस तरह छा गया कि पाण्डव जो उनके चचेरे भाई हो वे एकदम जानी दुश्मन लगने लगे, जिनका शीघ्र जीवन समाप्त किये बिना उसकी अधिनायकवादी सत्तालोलुपता और परिग्रह शीलता को सतुष्टि अलभ्य रहेगी।

शीघ्र ही सभा जुडी और सभी जनो ने दुर्योधन समर्थक मन्तव्य ही प्रस्तुत किया कि उनकी शक्ति बढने से पहले ही पाण्डवो का सर्वनाश कर दिया जाय। मन्युमय महाद्रुम पर छल, कपट, द्वेष रूपी शकुनी शाखा बडी होकर बढने लगी। परन्तु भीष्म और द्रोण की जब स्व मत प्रकट करने की बारी आई तो उन्होंने यथोचित परामर्श ही प्रस्तुत किया, जिसने कर्ण और दुर्योधन की रोषाग्नि मे घृताहुति का काम किया। भीष्म ने कहा कि 'कौरव और पाण्डव दोनो ही मेरी दृष्टि मे एक समान है, इस राज्य पर उनका भी इतना ही अधिकार है जितना कि तुम्हारा। अत सन्धि के द्वारा उन्हे राज्य का आधा भाग दे दिया जाय— सधाय वीरै दीयताम् अर्धभूमि '(आदिपर्व, 202 4)। द्रोण ने भी ऐसे ही न्यायपरक वचन कहे

ममाप्येषा मतिस्तात या भीष्मस्य महात्मन ।
संविभाज्यस्तु कौन्तेया धर्म एष सनातन ॥
आदिपर्व 203 1

अर्थात्, 'हे तात ! (धृतराष्ट्र को सम्बोधन) मेरा अभिमत भी वही है जो महात्मा भीष्म का है। कुन्ती पुत्रो को उनके हिस्से का राज्य दे दिया जाय यही राजधर्म की सनातन परम्परा है।'

भीष्म और द्रोण के इस परामर्श 'तेषामर्धं प्रदीयताम्' के प्रति कर्ण की अत्यन्त कटु और क्रोधजन्य प्रतिक्रिया हुई। उसने धृतराष्ट्र को जो कुछ कहा उसका सार यह है कि देख लिया आपने कि जिन भीष्म और द्रोण को आपने

अपनी राजसभा मे इतना सम्मान दिया है और हर महत्त्वपूर्ण प्रश्न व समस्या पर समाधान हेतु इनके परामश का आप इतना आदरसत्कार करते हैं, ये यदि आपके भले (हित) की सलाह न दे तो इससे बढकर आश्चय की और क्या बात हो सकती है। कण ने भीष्म और द्रोण को अकृतज्ञता के जघ य अपराध का दोषी घोषित किया—

योजितावथमानाभ्या सवकार्येष्वन तरौ ।
न म त्रयेता त्वच्छ्रे य किममद्भुततर तत ।।
आदिपव 203 13

पर तु धृतराष्ट्र अब क्या करे ? शा तनुन दन भीष्म जिसने राज्य की सुरक्षा की प्रतिज्ञा की ह तथा जो त्याग शौय और व्रत की दिव्य मूर्ति मा य है, उसकी यायोचित कथनी की अवज्ञा करना क्या धृतराष्ट्र के लिए उचित है ? क्या द्रोणाचाय के प्रज्ञापूण परामश की अवहेलना करने मे धृतराष्ट्र अपने पुत्रों की दुष्टता, अ यायज य सत्तालोलुपता और शकुनि की षडय त्रकारिता को खुले आम समथन और प्रोत्साहन प्रदान नही करेगा जो कौरव कुल और राज्य के विध्वस की प्राग्भूमिका बन जायेगी ? क्या पाण्डवो के जीवित बच निकलने और पाञ्चाल स्वयम्बर मे द्रौपदी के विजेता अर्जुन के प्रति तीव्र गति से हस्तिनापुर मे बढती हुई लोकप्रियता धतराष्ट्र के माथे राज्यापहरण का कलक न मढ देगी यदि पाण्डवो को राज्य मे समान अधिकार की सनातन धम परम्परा के अधिकार लाभ से सवथा वञ्चित कर दिया जायेगा ? ऐसे अनेक प्रश्न और शकाए धतराष्ट्र के मन को उद्विग्न कर बैठी होगी और अ ततोगत्वा उसने भ्रातृतुल्य सूतपुत्र विदुर को बुला कर निणयात्मक स्वर मे कहा—

यथैव मम पुत्राणामिद राज्य विधायते ।
तथैव पाण्डुपुत्राणामिद राज्य न सशय ।।
आदिपव 205 3

'जसे मेरे पुत्रो का यह राज्य कहा जाता है उसी प्रकार पाण्डु पुत्रो का भी यह राज्य है—इसम लवलेश मात्र भी सशय नही है ।'

क्षत्तरानय गच्छतान् सह मात्रा सुसत्कृतान् ।
तया च देवरूपिण्या कृष्णया सह भारत ।।

अर्थात्, 'भरतवशी विदुर ! अब तुम्ही पांचाल जाओ और उनकी माता कुन्ती तथा उस देवरूपिणी वधू कृष्णा के साथ इन पाण्डवो को सत्कार पूवक ले आओ ।' —(आदिपव 205 4)

इस घटना स मनुष्य मनुष्य के भीतर लहराती हुइ म युमयता और झरती हुई मानवीयता के ही दशन नही हात, कि तु दोनो म जो पारस्परिक

अन्तर्द्वन्द्व जीवन को सुलगाता रहता है, उसकी भी स्पष्ट झलक दिखाई देती है। जीवन के ताल पर मृत्यु का सघन ताण्डव करने लगता है। अन्तःकरण में धृतराष्ट्र प्रसन्न नहीं था किन्तु लोकलाज व जनमत के भय से विवश होकर उसने भीष्म और द्रोणाचार्य की मन्त्रणा को स्वीकारते हुए, पाण्डवों को हस्तिनापुर बुलाने का निश्चय, दुर्योधन के विपरीत, घोषित किया। और उनके आने पर उन्हें आधा राज्य, कौरवों की वंश मर्यादा के अनुकूल दे दिया। यह भारत का प्रथम विभाजन था।

महाराजा द्रुपद ने अनेक बहुमूल्य उपहार देकर पाण्डवों को विदा किया। महाराजा धृतराष्ट्र ने भी विधिवत् युधिष्ठिर का राज्याभिषेक किया और उन्होंने पाण्डवों को समझाया कि कौटुम्बिक शान्ति हेतु वे हस्तिनापुर छोड़ कर खाण्डवप्रस्थ जाकर अपनी नयी राजधानी बनाये। प्राचीन कालीन पूर्वजों की राजधानी भी वही थी, परन्तु उस समय खाण्डवप्रस्थ घोर वनस्थली बना हुआ था। शान्तिप्रिय पाण्डवों ने अथक परिश्रम से वहां पर इन्द्रप्रस्थ नाम की नयी राजधानी बनायी। वहां उन्होंने तेरह वर्ष तक लोककल्याणकारी प्रशासन किया और जन यश का भारी उपार्जन किया।

इसी काल में इन्द्रप्रस्थ में एकदा देवर्षि नारद का आगमन हुआ। वे पाण्डवों की धार्मिकता से तो बहुत प्रसन्न हुए परन्तु उन्होंने, एक अटपटी बात को देखकर, निःशंक कहा 'द्रौपदी! तुम पांचों भाइयों की पत्नी हो, पर साथ रहने का तुमने कोई नियम नहीं बनाया। भलाई नियम बद्धता में ही है।' नियम बना कि द्रौपदी के साथ प्रत्येक एक-एक मास रहेगा और जो यह नियम भंग करेगा उसे बारह वर्ष वनवास दण्ड भोगना पड़ेगा। स्वशासन और मर्यादित जीवन के मूल्यों से जीवन में पारस्परिकता के प्रेम और सहयोग का माधुर्य सहज ही संचरित होने लगा। जन जीवन में भी अनुशासन और आपसी स्नेह की प्रगाढ़ता का सूत्र दृढ़ होने लगा। एक दिन अर्जुन राजभवन के द्वार पर बैठे थे कि एक ब्राह्मण ने रुदन करते हुए वहाँ प्रवेश किया, वह शासन के प्रति कटु वचन भी बोल रहा था। अर्जुन के अनुरोध मूलक प्रश्न करने पर ब्राह्मण ने बताया कि चोर उसकी गायें चुरा कर ले गये हैं। क्षत्रिय श्रेष्ठ अर्जुन गायों को लौटा लाने हेतु कटिबद्ध हो गया, परन्तु उस समय वह निरस्त्र था और उसके अस्त्र शस्त्र उस भवन में थे जहां द्रौपदी एक मास के नियमानुसार युधिष्ठिर के सहवास में थी। यह धर्म संकट की घड़ी थी यदि वह शस्त्र लेने उस भवन में जाता है तो उसे नियम भंगानुसार बारह वर्षों (!) के वनवास का दण्ड स्वीकारना पड़ता है, यदि वह नहीं जाता है तो वह ब्राह्मण की अवज्ञा और दुःसप्रद अवहेलना की दुःसह्य और क्षत्रिय कुल कलंक प्रदा स्थिति

का प्रमादवश आह्वान करता है। शान्त मन और एकाग्रचित्त से विचार कर अर्जुन ने प्रथम विकल्प को श्रेयस्कर समझकर चुन लिया। सिर झुकाकर, पृथ्वी पर दृष्टि जमाते हुए अर्जुन ने भवन में प्रवेश किया, अस्त्र उठाये, चोरों का तीव्र वेग से पीछा किया, और गौएँ छुड़ाकर ले आया। ब्राह्मण आनन्दित हो उठा, अन्तःकरण की पावन गहराइयों से आशीर्वचन कहता हुआ। स्व गृह लौट गया।

नियम भंग के अपराधार्थ प्रायश्चित करते हेतु अर्जुन ने द्वादशवर्षीय वनवास गमन किया। यद्यपि युधिष्ठिर ने बहुत समझाने का प्रयत्न किया कि अपराध तब होता है जब बड़े भ्राता के जीवन में किञ्चित मात्र भी विघ्न खड़ा होता और वह स्वयं नियम भंग की शिकायत करता। परन्तु नियम की मर्यादा का भंग मात्र अपराध की योनि है और निर्धारित दण्ड भोग ही उसका सच्चा प्रायश्चित है, ऐसे में तथ्य पर अर्जुन की अडिगता से प्रभावित होकर माता कुन्ती सहित सभी ने वनवास-गमनार्थ अर्जुन का पथ निर्विघ्न कर दिया।

मूल्याङ्कन की दृष्टि से यह एक अत्यन्त छोटी, सरल परन्तु सारगर्भित घटना है। कहाँ तो दुर्योधन का भोगवादी, परपीडक, सत्तालोलुप अमानुषीय जीवन दर्शन और व्यवहार और कहाँ पाण्डव पुङ्गव अर्जुन का त्यागवादी, परहितकारी, वीरोचित, मानव सेवा-परक जीवन दृष्टि और व्यवहार! राज्य गया नहीं है, पाण्डवों ने राज्य की माँग भी नहीं की है, अधिकार जताने का संकेत तक नहीं किया है उन्होंने, परन्तु भावी में पाण्डव राज्य माँगेंगे इस भय मात्र से दुर्योधन भीम को विष देकर मार डालने, लाक्षागृह दहन द्वारा पाण्डवों की जीवन लीला को सदा के लिए समाप्त कर डालने आदि के अनैतिक और भ्रातृ घाती षडयन्त्रों का रचयिता बन गया। द्रौपदी स्वयम्वरोपरान्त पाण्डवों के जीवित रह जाने की जानकारी से कौरव राजकुमारों में हुई प्रतिक्रिया उनकी क्रूर, अन्यायप्रद और अमानवीय जीवन दृष्टि व शैली को स्पष्ट द्योतन करती है। हस्तिनापुर से दूर खाण्डवप्रस्थ में धृतराष्ट्र ने पाण्डवों को इसीलिए भेजा कि वह दुर्योधन के दुष्ट स्वभाव, षडयन्त्रकारी प्रवृत्ति और स्वयं की उसके समक्ष विवशता से भली भाँति परिचित थे। एक ओर सत्ता और सम्पत्ति के अधिकार के लिए भाई भाई को यमलोक पहुँचाने हेतु उद्यत है, दूसरी ओर लोक संग्रह और सुरक्षाप्रद प्रशासन जन जन को सुलभ हो, विशेषकर विद्वद् समुदाय के प्रतीक ब्राह्मण को तनिक मात्र भी कष्ट न हो—ऐसी कल्याणकारी जीवन दृष्टि से अभिभूत पाण्डव एक ब्राह्मण की गायों को चोरों के चंगुल से मुक्त कराने हेतु स्वेच्छा से बारह वर्ष का वनवास निःसंकोच ग्रहण करे। अतीव विचित्र बात है यह, पर है यह मानवीय जीवन का एक प्रेरक सत्य, एक व्यवहृत आदर्श पृष्ठ।

मर्यादा पालनार्थ आत्म चयनित वन गमन का प्रायश्चित कर्म यद्यपि अत्यन्त दुष्कर तथा सकटापन्न रहा परन्तु तपोपूत निष्ठावन्त अर्जुन के शौर्य और शालीनता के प्रभाव से उसकी वन यात्रा फलप्रदा ही सिद्ध हुई। हरिद्वार मे नागराज कौरव्य से मैत्री हुई और उसकी कन्या उलूपी उसे वधू के रूप प्राप्त हुई, आगे तीर्थाटन करते करते पूर्व दिशा के मणिपुर की राजकन्या चित्रांगदा से विवाह और बभ्रुवाहन नामक पुत्र की प्राप्ति हुई जिसकी वीर गाथाएँ महाभारत को नया मोड और रोमाञ्चकारी मञ्च प्रदान करने वाली सिद्ध हुई, मणिपुर से पचतीर्थ होते हुए अर्जुन ने जब प्रभास क्षेत्र मे प्रवेश किया तो वहाँ श्रीकृष्ण से अर्जुन की दूसरी मुलाकात हुई और वहाँ उसने कृष्ण के सहयोग से 'सुभद्रा'— हरण करके यादवो की शक्ति से मैत्री सम्बन्ध स्थापित किये। सुभद्रा के साथ कुछ काल तक पुष्कर तीर्थ मे अर्जुन ने निवास किया और द्वादश वर्षो की वनवास अवधि की परिसमाप्ति पर वह सुभद्रा और कृष्ण सहित इन्द्रप्रस्थ लौट आये।

सभी पाण्डवो का पुनर्मिलन एक नयी शक्ति के सचार का प्रतीक बन गया। श्रीकृष्ण की इन्द्रप्रस्थ मे विद्यमानता ने जीवन मूल्यो के सघर्ष को ही नही अपितु महाभारत के सम्पूर्ण घटनाचक्र को एक नाटकीय मोड प्रदान किया, एक नूतन नेतृत्व और एक नयी दिशा प्रदान की।

इन्द्रप्रस्थ लौट आने के बाद खाण्डव-दाह की अप्रत्याशित और आश्चर्य जनक घटना घटी जिसमे अग्निदेव अर्जुन के समक्ष याचक बनकर आये और सन्तुष्ट हो जाने पर उन्होने अर्जुन को 'गाण्डीव' नाम का विशाल और प्रसिद्ध धनुष 'अक्षय तूणीर' और वरुण से प्राप्त 'नदिघोष' नामक दिव्य रथ प्रदान किया इनके बदले मे अर्जुन ने अग्निदेव को खाण्डव वन को दग्ध करने की स्वीकृति दी जिससे अग्निदेव अजीर्ण रोग से मुक्त हो सके। खाण्डव वन इन्द्र देव से रक्षित क्षेत्र था अत वन मे अग्नि प्रज्ज्वलित होते ही उसकी रक्षा हेतु इन्द्रदेवाज्ञानुसार मेघवर्षण होने लगा। कृष्ण से सकेत पाकर अर्जुन ने अपने शीघ्र शरानुसधान से नभ को इस तरह आच्छादित कर दिया कि बूंदो के गिरने के पूर्व ही अग्नि के उदर मे सब कुछ स्वाहा हो गया। तक्षक बच न सका। इन्द्र अर्जुन के शौर्यप्रदर्शन से प्रसन्न हो गये और 'दिव्यास्त्र' की प्राप्ति के लिए इन्द्र ने अर्जुन को शकराराधन के लिए कहा।

खाण्डव दहन मे बचने वाले छ प्राणियो मे एक 'मय' दानव था जिसने प्राण रक्षा हेतु अर्जुन के प्रति कृतज्ञता प्रकट करके, सेवार्थ निवेदन किया। कृष्ण जानते थे कि मय एक महान शिल्पी था। अत उन्होने कहा—'महाराज युधिष्ठिर के लिए इन्द्रप्रस्थ मे एक ऐसे सभा भवन का निर्माण करो, जो अनुपम

आर अद्वितीय हो।' सभा भवन बना और उसकी हर किसी का आश्चर्यचकित कर देने वाली चमत्कारिक अनुपमता ने ही दुर्योधन की क्रोधाग्नि मे आहुति का काम आगे चल कर किया। विश्व इतिहास मे किसी अद्भुत कलाकृति ने यदि युद्ध को कही जन्म दिया है तो वह मयदानव कृत पाण्डवो का यही सभा भवन था। लगता है पाण्डव वन का अक्षय शाप ही दुर्योधन की क्रोधाग्नि का मूर्त रूप बन गया।

यही से जीवनमूल्यो का सघर्ष अस्तित्व की परिधि से अस्मिता की परिधि म प्रविष्ट हो गया, श्रीकृष्ण उस सघर्ष के सूत्रधार बन गये, और भीम तथा अर्जुन बन गये उस सघर्ष के मानवीय स्वतन्त्रता और न्याय पक्ष म प्रधान नायक।

अब पाण्डव अकेले नही थ। उनकी शक्ति विकासपथगामिनी बन चुकी थी। पाञ्चालो और यादवो की बडी राज्यशक्तिया इनके साथ थी। कस का तेजोभग और उसके जीवन के साथ उसकी आतकवादी शक्ति का सम्पूर्ण विध्वस करने वाले मथुरावासियो के हृदय सम्राट कृष्ण भी पाण्डवो के सहायक बन चुके थ। इसका मूल कारण यह था कि कृष्ण स्वाधीन और स्वावलम्बी नागरिको के गणराज्य की स्थापना द्वारा मानवता, न्याय और स्वतन्त्रता प्रधान जन जीवन के आदर्श और मूल्यो का राष्ट्रीय जीवन का यथार्थ स्वरूप बनाने हेतु कृत सकल्प थे और धर्मराज युधिष्ठिर के नेतृत्व मे पाण्डव भी समानता और स्वतन्त्रता के पोषण और प्रोत्साहन मे सलग्न थ। अत कृष्ण और पाण्डवो की घनिष्ठता मे आत्मीयता की सुगन्ध सहज ही व्यक्त हुई। दुर्योधन और शकुनि सहित कर्ण की मैत्री मे मात्सर्य की मलिनता और द्वेष की दुर्गन्ध थी। अत अब जीवन मूल्यो के इन दो परस्पर विरोधी पद्धतियो म सघर्ष न एक अभिनव रूप व्यक्त किया और उसका आधार बना अस्मिता। अब तक तो पाण्डव अस्तित्व हेतु ही सघर्षशील थे, कभी प्रकट रूप म, कभी छद्म रूप म। अब सघर्ष क रूप म, शैली मे, आधार मे एक नवीनता का समावेश हुआ, उसमे एक नयी सामर्थ्य का प्रत्यक्ष दर्शन होने लगा, उसकी कसौटियाँ और अधिक उदात्त हो गई।

मयदानव निर्मित उत्कृष्ट कलाकृति सभा भवन ही सघर्ष की इस नूतनता के उद्घाटन का भव्य प्राङ्गण बना। देवर्षि नारद ने इन्द्रप्रस्थ के सिंहासन पर अभिषिक्त राजा युधिष्ठिर को राजसूय यज्ञ करने की विशिष्ट मन्त्रणा दी। इसका मूल प्रयोजन सत्य और धर्म पर आधारित राज्य और जीवन आदर्शो की सस्थापना करना था। इस यज्ञ के सम्पादन हेतु युधिष्ठिर ने द्वारिका से महामहिम कृष्ण को निमन्त्रित किया। कृष्ण आये, राजसूय यज्ञ के विचार की

सराहना करते हुए कहा 'धर्मराज्य और न्याय-तन्त्र की मानव-स्वातन्त्र्य के प्रोत्साहनार्थ और मानव विकास के सहयोगार्थ स्थापना करना एक अत्यन्त सुन्दर और महत्त्वपूर्ण विचार है। परन्तु यह काम सरल नहीं है। प्रचण्ड शक्तिशाली राजाओं का सामना करना पड़ेगा। इस शान्तिमय यज्ञ में सर्वाधिक और प्रथम विरोध मगधराज जरासन्ध करेंगे, जो दिवंगत कंस के श्वसुर हैं और जो स्वयं अधिनायक तन्त्र के संस्थापक ही नहीं, अपितु स्वयं एक भारी नरमेध यज्ञ करने पर तुले हुए हैं। इस यज्ञ में बलि चढ़ाने हेतु उसने अभी तक छियासी राजाओं को परास्त कर बन्दी बना लिया है।' मथुरा छोड़कर द्वारिका में कृष्ण के जा बसने में जरासन्ध की अमानुषीय अत्याचार पूर्ण आतंक भी एक कारण था। अतः युधिष्ठिर राजसूय यज्ञ की सफलता के प्रति एकदम सशंकित हो उठे और यज्ञ करने के विचार तक को छोड़ने की स्थिति में आ गये। वे निराशानद में डूबने लगे परन्तु भीम और अर्जुन ने हिम्मत बधाई तथा कृष्ण ने भी साहस और सूझ से यज्ञ सम्पन्न करने की मन्त्रणा दी। यदि जरासन्ध यज्ञ विध्वंस हेतु आक्रमण करता है या युद्ध की स्थिति पाण्डवों पर थोप देता है तो पाण्डवों का नवलब्ध राज्य संकटापन्नावस्था से आक्रान्त हो सकता है और मन-ही मन इनकी दुर्गति और मृत्यु चाहने वाले दुर्योधन आदि के नेतृत्व की कौरव-सत्ता इनकी स्थिति को और भी भयावह बना सकती है। अतः कृष्ण ने इस दृष्टि से कि सम्भावित युद्ध में सहस्रों सैनिकों का अनावश्यक विनाश भी न हो और न ही पाण्डव चारों ओर से शत्रुओं द्वारा घिर जायें, एक नयी युक्ति निकाली जिससे जरासन्ध भी मर जाय और युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ भी सफलतया सम्पादित हो जाय।

इस संकल्प को पूरा करने की दृढ इच्छा से मानवता के तीनों उपासक, अपनी नयी युक्ति के अनुरूप, ब्राह्मणवेश में मगध की राजधानी राजगृह पहुँचे। ये तीन श्रेष्ठ मानव थे—भीम, अर्जुन और कृष्ण। पिछले द्वार से इस हीन राजधानी में प्रवेश किया, और प्राचीर लाँघ कर वे सीधे जरासन्ध की सन्निधि में पहुँच गये। कथा विस्तार के बिना यहाँ इतना विवरण ही पर्याप्त है कि जरासन्ध की प्रताड़ना को सुनकर कि तुम इस प्रकार यहाँ क्यों आये हो श्री कृष्ण ने दृढ़ता से जो कहा उसका सार इस प्रकार है 'हम यहाँ पर तेरा वध करने हेतु आये हैं। तू भले ही यज्ञ महायज्ञ करता हो, परन्तु तू धूर्त, अधर्मी और मानवघाती है। सम्पत्ति और सत्ता के लाभ और दम्भ से तू नारकीय नरसंहारक नरमेध करना चाहता है। उसके लिए तू ने छियासी राजाओं को अपनी जेल में इस दृष्टि से बन्द कर रखा है कि जब पूरे सौ राजा तेरे बन्दी हो जायेंगे तो तू नरमेध का सफल सम्पादन करेगा। मैं कृष्ण हूँ, मेरे साथ

भीम और अर्जुन है। युद्ध मे तो तू भाग जाता है परन्तु इस मलयुद्ध या द्वन्द्व-युद्ध हेतु महारथी आये है। तेरी शक्ति और सामर्थ्य हो तो इन दोनो मे से किसी के साथ इच्छानुसार युद्ध कर।'

जरासन्ध अपने को महाबली और अन्या को अपने सामने मच्छर समझता था। भीम के साथ द्वन्द्व-युद्ध का आह्वान जरासन्ध ने स्वीकारा और तेरह दिन और तेरह रात दोनो, तरह-तरह के भीषण और घातक प्रहारो और प्रतिप्रहारो द्वारा, लडते रहे। युद्ध की प्रचण्डता और भयकरता से अन्ततोगत्वा जरासन्ध म तनिक शैथिल्य प्रकटा और चौदहवें दिन भीम के भीषण मुष्टिका प्रहार से जरासन्ध धरती पर गिर पडा परन्तु अद्वितीय पराक्रम से वह पुन युद्ध करने लगा। समय को देख कर कृष्ण ने भीम को एक सकेत दिया और भीम ने तुरन्त ही उसके दोनो पैर पकड कर उसके शरीर को चीर कर फेंक दिया। सधि बिखर गई, जरासन्ध मर गया और फलस्वरूप छियासी कैद राजा मुक्त कर दिये गये। कृष्ण ने जरासन्ध के पुत्र सहदेव का मगध के सिंहासन पर राज्याभिषेक किया।

एक जरासन्ध के युक्तियुक्त वध से क्रूर नरमेध का अन्त हुआ, सित्यासी राजाओ का युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ की सफलता हेतु सहज ही म हार्दिक सहयोग मिल गया, और मानव स्वतन्त्रता, धर्म-सस्थापना और न्यायोचित जीवन के सरक्षण और सवर्द्धन हेतु पाण्डवो की दिग्विजय का मार्ग प्रशस्त हो गया। यह कितनी बडी उपलब्धि थी कि बिना किसी सैनिक, योद्धा आदि के रक्त की एक भी बूद बहाये भारत के तीन चौथाई भाग मे मानव-स्वातन्त्र्य प्रोत्साही और सत्यपोषी धर्मराज्य की आधार शिलाएँ रख दी गई। जीवन-मूल्यो के सघर्ष के द्वितीय चरण की यह एक महत्वपूर्ण मानवीय उपलब्धि सिद्ध हुई कि राज्यसत्ता की मगध मथुरा धुरी टूट गई।

इन्द्रप्रस्थ मे राजसूय यज्ञ की तैयारियाँ हो गई। देश देश के राजे-महाराजे अतुल धनराशि और अमूल्य रत्नो के असख्य उपहार लेकर यज्ञ मे सम्मिलित हुए। कृष्ण की राय से युधिष्ठिर ने राजाओ को योग्यतानुसार दायित्व भार सौंपा—भीष्म और द्रोण ने यज्ञ की कार्यविधि सम्पादन का कार्य सम्भाला, दुर्योधन ने भेंट, उपहार को सम्भाल कर रखने का दायित्व स्वीकारा, कृष्ण के दायित्व म ब्राह्मणो के चरण प्रक्षालन और पूजन का कार्य आया, और विदुर, अश्वत्थामा, कृपाचार्य आदि सभी जनो ने तरह तरह से अतिथियो की सुख सुविधा और यज्ञ मण्डप को सजाने व सफल बनाने का कार्य किया।

यज्ञ म अग्र-पूजा का प्रश्न उठा तो भीष्म की सम्मति से युधिष्ठिर ने

श्रीकृष्ण का अग्रपूज्य घोषित किया। यह सुनकर सहदेव कृष्ण के चरण पखारने लगे। चेदिराज शिशुपाल, जो कृष्ण की बुआ का लडका था, कृष्ण के अग्रपूजन को सहन न कर सका। आवेश में आकर उसने भीष्म पितामह और कृष्ण को अटसट अपमानसूचक शब्द कहे। दिये गये वचनानुसार शिशुपाल की सौ गालियाँ तो कृष्ण ने सुनी और आगे और कुछ कहते ही कृष्ण के सुदर्शन ने शिशुपाल का मस्तक छेदन कर दिया। और उसका कटा शीश धरा पर गिर पडा। वातावरण की गम्भीरता और स्तब्धता से सहम कर युधिष्ठिर ने कृष्ण की स्तुति की। उनकी प्रसन्नता के फलस्वरूप राजसूय यज्ञ की पूर्णाहुति हुई और सभी राजा महाराजा ससम्मान और प्रसन्नता पूर्वक अपनी अपनी राजधानियों को लौट गये। मानवीय स्वतन्त्रता का मर्यादा ध्वज फहराने लगा। मगध मथुरा की सत्ताधुरी की अन्तिम सुदृढ इकाई छिन्न भिन्न हो गई।

यदि मगध धुरी का छिन्न भिन्न होना आतंकवाद, अन्याय, अनीति और अमानुषीय क्रूरता और कुटिल-कृत्या के सत्ता-केन्द्र और स्रोत का सर्वथा नष्ट होना था, तो कुरु पाञ्चाल धुरी का निर्माण मानव वाद, जीवन-स्वातन्त्र्य और धार्मिक न्याय के विकासोन्मुखी प्रेरणा केन्द्र की संस्थापना का महत्त्वपूर्ण कदम था। यह दूसरी बात है कि कुरु परिवार में ही दुर्योधन की मन्युमयता ने इस नूतन मानवीय विकास पथ को छन्नाच्छादित करके, शान्ति के सारे प्रयत्नों को विफल करके, महाभारत के कौरव पाण्डव महायुद्ध को अपरिहार्य बना दिया।

राजसूय यज्ञ की परिसमाप्ति पर मयदानव द्वारा विरचित सभा भवन के अनिर्वाच्य और मतिभ्रमोत्पादी शिल्प सौन्दर्य का निरीक्षण करते समय जब दुर्योधन ने स्फटिक स्थल को जलाशय और जलाशय को पाषाणस्थल समझकर अपने आप को भीम की हँसी और द्रौपदी के दुःसह्य कटु व्यंग्य का विषय बनाया, तब से उसके मन में प्रतिशोध और प्रतिद्वन्द्विता की अग्नि और अधिक प्रज्ज्वलित हो गई और शकुनि को लेकर दुर्योधन शीघ्र हस्तिनापुर लौट कर पाण्डवों के सर्व विनाश का जाल गूंथने लगा। वह षड्यन्त्रकारी जाल शकुनि नियन्त्रित द्यूतक्रीडा के रूप में प्रकट हुआ। यद्यपि विदुर ने धृतराष्ट्र को, पूछने पर, कहा, 'राजन् यह जुए का खेल सारे वंश के नाश का कारण बनेगा', तथापि दुर्योधन, कर्ण और शकुनि के हठ के सामने धृतराष्ट्र की कुछ न चली।

द्यूत हुआ। युधिष्ठिर सब कुछ हार गया। द्रौपदी को भी दाव पर लगा बैठा। दुर्योधन ने चाचा विदुर को कहा कि वह द्रौपदी को शीघ्र सभा में लेकर आये— वह पापाचारिणी 'अपुण्यशीला' दासी शीघ्र मेरे महल में आये और झाडू लगाये — सम्मार्जतां वेश्म परैतु शीघ्रं, तत्रास्तु दासीभिरपुण्यशीला (सभा पर्व 66 1)। विदुर द्वारा फटकार दिये जाने पर कि द्रौपदी कुरुकुल

वधू और इन्द्रप्रस्थ की सम्राज्ञी है, और वह जुए में हारी नहीं गई है क्योंकि हारे हुए युधिष्ठिर को द्रौपदी को दाव पर लगाने का अधिकार ही नहीं था (सभापर्व 26 4) दुर्योधन ने प्रतिकामी को यह निलज्ज कार्य सौंपा। प्रतिकामी की विनय को सुनकर द्रौपदी ने कहा, 'हे सूतपुत्र! तुम सभा में उन जुआरी महाराजा के पास जाओ और फिर यह पूछो कि 'आप पहले अपने को हारे थे या मुझे?'

गच्छा त्वं कितवं गत्वा सभायां पृच्छ सूतज।
किं नु पूर्व पराजयीरात्मानमथवा नु माम्॥
सभापर्व 67 7

अनायास ही विदुर मानो द्रौपदी की जिह्वा पर आ बैठा। यह प्रश्न सभा के समक्ष सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न बन गया और भीष्म, द्रोण, अश्वत्थामा आदि सयाने और धर्म धुरंधर आचार्यों समेत सभी कौरवों की अन्यायपरक असमानवीयता और धर्मविहीन दुष्टाचारिता का प्रत्यक्षीकरण कराने वाला दर्पण बन गया।

बलात् द्रौपदी को, जो उस समय एक वसना और रजस्वला थी, सभा में लाया गया। (67 19) सभा में द्रौपदी ने वही प्रश्न फिर दोहराया। प्रश्न की गम्भीरता और मर्यादा को जानते हुए भी किसी ने प्रत्युत्तर में कुछ नहीं कहा। दुःशासन के निलज्ज और अपमान भरे दुर्व्यवहार के प्रति द्रौपदी ने विनय भरे शब्दों में कहा, 'दुःशासन मेरी लज्जा न लो, मैं कुल वधू हूँ। कुल मर्यादा की रक्षा करो।' दुःशासन सत्ता के आवेश में, पाशविक वृत्ति के आधीन, मानवीय स्वतन्त्रता के अपहरण के उन्माद में कुछ सुनने वाला नहीं था। वह तो अट्टहास करता हुआ चीख पड़ा— 'द्रौपदी! तू रजस्वला, एक वस्त्रा अथवा नंगी क्या न हो, हमने तुम्हें जुए में जीता है, अतः तू हमारी दासी है'— रजस्वला वा भव याज्ञसेनि, एकाम्बरा वाप्यथवा दिगम्बरा, द्यूते जिता चासि कृतासि दासी (सभा पर्व 67 34) दुःशासन की कठोर और क्रूर मुद्रा को देखकर द्रौपदी गान्धारी के भवन की ओर भागने लगी। दुःशासन ने दौड़कर द्रौपदी के खुले हुए घने बाल पकड़ लिए और उसे निर्दयता से घसीटता हुआ सभा में उपस्थित सभी वयोवृद्धों और राजाओं की दृष्टि में ला गेरा। द्रौपदी ने करुण क्रन्दन से सभी को धिक्कारा—

धिगस्तु नष्ट खलु भारताना
धर्मस्तथा क्षत्रविदां च वृत्तम्।
यत्र ह्यतीतां कुरुधर्मवेलां
प्रेक्षन्ती सर्वे कुरवः सभायाम्॥
सभापर्व 67 40

'अहो ! धिक्कार है ! भरतवंश के नरेशों का धर्म निश्चय ही नष्ट हो गया तथा क्षत्रिय धर्म के जानने वाले इन महापुरुषों का सदाचार भी लुप्त हो गया, क्योंकि कौरवों की धर्म मर्यादा का उल्लंघन हो रहा है तो भी समासीन सभी कुरुवंशी चुपचाप देख रहे हैं।' वह फिर कहती है, 'द्रोणस्य भीष्मस्य च नास्ति सत्त्वम्' अर्थात्, जान पड़ता है कि भीष्म पितामह आचार्य प्रवर द्रोण, महात्मा विदुर, महाराजा धृतराष्ट्र आदि सभी महापुरुषों का सत्त्व निकल गया है।

वृद्ध जन लज्जा से गड़ गये, परन्तु दुर्योधन के प्रभाव के आगे कुछ बोल न सके। दुःशासन ने दासी कहकर द्रौपदी को जोर से धक्का दिया। वह मूर्छित-सी हो रही थी। *कर्ण को बड़ी प्रसन्नता हुई।* उसने खिलखिलाकर दुःशासन के कथन और कृति की बड़ी सराहना की— 'कर्णस्तु तद्वाक्यमतीव हृष्टः सम्पूजयामास हसन् सशब्दम्' (सभा पर्व 67 45)। भीष्म बोले पर मिश्रित भाव में— जो स्वामी नहीं है वह पराये धन को दाँव पर नहीं लगा सकता, परन्तु स्त्री को सदा अपने स्वामी के अधीन देखा गया है, अतः इन बातों पर विचार करने से मुझसे कुछ कहते नहीं बनता— *'अस्वामी अशक्तः* पणितुं परस्व, स्त्रियाश्चभर्तुर्वशतां समीक्ष्य' (सभा पर्व 67 47)।

निरुपाय, निराश और आक्रोशपूर्ण द्रौपदी ने *विडम्बना के उस क्षण में*, दुर्गा भागवत लिखती हैं, 'अनजाने, आवेग के प्रवाह में, सत्य के उस मूल मानवीय आधार को स्पर्श किया जिसे समस्त कलाएँ, समस्त धर्म सर्वत्र ढूँढते हैं और ढूँढने पर ही सत्त्वशील कहलाते हैं। वह श्लोक शत शत नाद सहित गूँज उठा मेरे मन में। सीधी सादी रचना है। नहीं हैं अनुप्रास का अवगुण्ठन, नहीं है उपमा उत्प्रेक्षा की सजावट ! परन्तु भरा है बुद्धिमानों, *ज्ञानवानों* और धर्मज्ञों के अनुभव का सार सर्वस्व। सत्य की परिभाषा करता हुआ, तीव्र स्वर में कहा गया और निरुत्तर कर देने वाला श्लोक—

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा
न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम्।
नासौ धर्मो यत्र च नास्ति सत्यं
न तत्सत्यं यच्छलेनानुविद्धम्॥

व्यासपर्व पृ 67   सभापर्व 67 52

अर्थात्, वह सभा नहीं है जहाँ वृद्ध पुरुष न हों, वे वृद्ध नहीं हैं जो धर्म की बात न बतावें वह धर्म नहीं है जिसमें सत्य न हो, और वह सत्य नहीं है जो छल युक्त हो।' भीष्मोक्त वचन की छलयुक्तता पर ही यह करारा प्रहार न था, परन्तु सारी सभा, सभासद और सभा के सत्य और तात्पर्य की इसमें तीखी सत्य चिकित्सा है।

द्रुपदसुता के इस क्रन्दन कुठार ने कई सभासदों के अन्तर्मन में खलबली मचा दी। भीम की जड समाधि भग हुई और वह गर्जन कर उठा, 'इद तु अतिक्रम मन्ये' (सभा पर्व 68 4) अर्थात् द्रौपदी को जो दाँव पर लगाया है, इसे मैं अनुचित समझता हूँ। यह धर्म का, मानव जीवन की स्वतन्त्रता के सत्य का घोर अनादर है, अतिक्रमण है। भीम ही नहीं, दुर्योधन के भाई विकर्ण ने जो प्रस्तुतिकरण निर्णयार्थ सिंहासनासीन सभा के अनेक राजाओं के समक्ष किया, उसके लिए भीम मन ही मन उसका कृतज्ञ हो गया, और अनेक सभासदों ने दुर्योधन को अन्तर्मन से धिक्कारना आरम्भ कर दिया। इस घटना से जीवन मूल्यों के सघर्ष को एक नयी कसौटी मिली, उसके लिए एक नया आयाम खुला और सघर्ष के आगामी चरण का द्वार उन्मुक्त होने लगा। विकर्ण ने कहा— 'कौरवो तथा अन्य भूपालो! आप लोग द्रौपदी के प्रश्न पर किसी प्रकार का विचार प्रकट करें अथवा न करें, मैं इस विषय में जो न्यायसगत समझता हूँ, वह कहता हूँ (मन्ये न्याय्य यदत्राह तद्धि वदयामि कौरवा)

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर ने द्यूत जुआरियों से प्रेरित होकर द्रौपदी को दाँव पर लगाया है। सती साध्वी द्रौपदी समस्त पाण्डवों की समान रूप से पत्नी है, केवल युधिष्ठिर की ही नहीं। इसके अलावा, युधिष्ठिर पहले आपको हार चुके थे, उसके बाद उन्होंने द्रौपदी को दाँव पर लगाया था। यह सब शकुनि की चाल है। इन सब बातों को विचार करके मैं द्रुपद कुमारी कृष्णा को जीती हुई नहीं मानता'— एतत् सर्वं विचार्याह मन्ये न विजितामिमाम्' (सभा पर्व 68 18–24)।

यह सुनकर सभी सभासद विकर्ण की सराहना और शकुनि की निन्दा करने लगे। सभा में कोलाहल सा हो गया। तब राधानन्दन (कुन्तीनन्दन!) कर्ण ने क्रोधावेश में विकर्ण की भुजाओं को जोर से पकड कर, उसे मूर्ख आदि कहता हुआ, इस प्रकार बोला, ' कुरुनन्दन! देवताओं ने स्त्री के लिए एक ही पति का विधान किया है, परन्तु यह द्रौपदी अनेक पतियों के अधीन है अत यह निश्चय ही वेश्या है। इसका सभा में लाया जाना कोई अनोखी बात नहीं है। एकवस्त्रा और नगी हो तो भी यह यहाँ लाई जा सकती है। यह मेरा स्पष्ट मत है (सभा पर्व, 68 35 36)। दु शासन! यह विकर्ण अत्यन्त मूढ है, तथापि विद्वानों की सी बातें बनाता है। तुम पाण्डवों के और द्रौपदी के वस्त्र उतार लो (स प 68 37)— पाण्डवाना च वासासि द्रौपद्याश्चाप्युपाहर।'

फिर क्या था! द्रौपदी चीर हरण का उपक्रम शुरू हुआ। द्रौपदी ने मन ही मन महर्षि वसिष्ठ के पूर्वकालीन उपदेश के अनुसार कि 'महत्यापदि

सम्प्राप्त स्मतव्यो भगवान् हरि ' श्रीकृष्ण की मूक रुदनवत् प्रार्थना की— 'हे नाथ ! हे रमानाथ ! हे व्रजनाथ ! हे सकटनाशन जनार्दन ! मैं कौरव रूप समुद्र मे डूबी जा रही हूँ, मेरा उद्धार कीजिये ।' द्रुपदनन्दिनी की यह करुण पुकार सुनकर दयानिधि श्रीकृष्ण गद्गद् हो गये, कृष्णा की रक्षणार्थ उसी क्षण दौड पडे और अव्यक्त रूप से उसके वस्त्र मे प्रवेश करके नानाविध सुन्दरातिसुन्दर वस्त्रो द्वारा द्रौपदी को आच्छादित कर दिया— 'वसन रूप भये श्याम' । दुशासन की भुजाएँ थक गईं, सभासद चकित हो गये, द्रौपदी उपकृत और हर्षित हो गई। सर्वत्र आश्चर्य भरा शोर मच गया । दुशासन को सभी कोसने लगे ।

अब भीमसेन से रहा न गया । समस्त राजाओ के बीच हाथ पर हाथ मलते हुए महाबली भीम ने क्रोध से फडकते हुए ओठो द्वारा भयकर गर्जना के साथ यह शाप दिया (प्रतिज्ञा की)— 'शशाप तत्रभीमस्तु ।' उसने कहा, 'यह खोटी बुद्धि वाला दुशासन भरतवश के लिए कलक है । मैं युद्ध म बलपूर्वक इस पापी की छाती फाड कर रक्त पान करूगा । यदि न पीऊँ तो मुझे अपने पूर्वजो की गति न मिले'(सभा पर्व 68 52 53) । भीमसेन की यह प्रथम क्रोधोक्ति थी भीषण प्रतिज्ञा थी जिसम भावी दुर्घटना का गर्जन भरा घोष है ।

उधर दुशासन चीर खींचते खींचते एकदम थक गया । पर वह द्रौपदी को निवस्त्रा न कर सका । आखिर वह लज्जित होकर चुपचाप बैठ गया । कृष्ण ने कृष्णा की लाज रख ली । दुर्योधन के लिए यह सब कुछ सह्य नही था । उसने सभा मे खडी द्रौपदी के प्रति अभद्र सकेत करते हुए अपनी जाँघ का वस्त्र उघाडा और उसे द्रौपदी को दिखाया । भीम का धैर्य पुन टूट पडा और उसने दूसरी प्रतिज्ञा सहज ही म कर डाली—'अधम दुर्योधन ! जिस जाँघ पर बैठने का इशारा करके द्रौपदी का अपमान कर रहा है, उस जाघ को अपनी प्रचण्ड गदा के प्रहार से तोड दूगा (सभा पर्व 71 14) । भीम के घोर गर्जन से सभी सभासद भय से काँपने लगे । अन्धे धृतराष्ट्र को दिखाई तो कुछ भी नही दे रहा था, पर सभा म सभी कुछ श्रव्य को सुनकर वे बैठे बैठे यह अनुभव कर रहे थे कि वहाँ जो कुछ हुआ वह उनके कुल के सहार का कारण बनेगा । अत उन्हाने द्रौपदी को अपने पास बुलाया, उसे सान्त्वना दी और फिर युधिष्ठिर की ओर मुडकर कहा, युधिष्ठिर ! तुम उदार हृदय हो ! दुर्योधन की दुष्टता को भूल जाओ । अपना धन राज्य सब कुछ वापस हुआ समझो ! फिर द्रौपदी को बडे प्रेमादर बुद्धि से कहा—'एवमुक्तवा धृतराष्ट्रो मनीषि' (पहली बार वेद व्यास ने धृतराष्ट्र को मनीषि कहा है, सम्भवत इसलिए कि यह प्रथम अवसर था कि उन्होंने विचार मग्न करके स्वतन्त्र निर्णय व्यक्त किया था)—

वरं वृणीष्व पाञ्चालि मत्तो यदभिवाञ्छसि ।
वधूनां हि विशिष्टा मे त्वं धर्मपरमा सती ।।
स प 71 27

हे पाञ्चालि ! तुम जो चाहो वह वर माग लो । तुम सभी वधुओं में वरिष्ठ हो, श्रेष्ठ हो, तुम सती साध्वी धर्मपरायणा हो ।'

जिसने भरी सभा में लाज रखी है उसी दिव्य सत्ता की प्रतिमूर्ति श्रीकृष्ण ने धृतराष्ट्र को वरदायक बुद्धियोग दिया है, ऐसा मानती हुई द्रौपदी ने बड़े विनय और विवेक से वर मागा कि 'धर्मप्राण युधिष्ठिर का दासत्व से विनिर्मुक्त कीजिये जिससे मेरे मनस्वी पुत्र प्रतिविन्ध्य को अज्ञानवश दूसरे राजकुमार ऐसा न कह सकें कि यह 'दासपुत्र' है (सभा पर्व 71 29) ।' 'तथास्तु' कह कर जब धृतराष्ट्र ने एक और वर मागने के लिए कहा, तब द्रुपदसुता ने कहा कि 'भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव अपने रथ और धनुषबाण सहित दास भाव से रहित और स्वतन्त्र हो जाये (सभा पर्व 71 32) ।' इस वर के दे देने पर धृतराष्ट्र ने एक तीसरा और वर मागने को कहा, परन्तु द्रौपदी ने यह कर कि 'लोभो धर्म नाशाय भगवन् नाहमुत्सहे' चुप हो गई, और अपनी स्वाभिमान-जन्य अस्मिता और धर्मपरायणता का परिचय दिया । धृतराष्ट्र ने स-सम्मान युधिष्ठिर को इन्द्रप्रस्थ लौट जाने के लिए कहा और सभी पाण्डव द्रौपदी सहित, गुरुजनों को प्रणाम करके इन्द्रप्रस्थ की ओर चल पड़े ।

पुन द्यूतक्रीडा और पाण्डवों को तेरह वर्ष का वनवास

दुर्योधन के सारे षड्यन्त्र पर धृतराष्ट्र की उदारता से भीषण तुषारापात हो गया । वह आक्रोश के साथ आया और धृतराष्ट्र से कहने लगा, 'हे मधुसूदन ! शत्रुओं का तो सब प्रकार के उपायों से हनन करना चाहिए'—सर्वोपायैर्निहन्तव्या शत्रवः शत्रुसूदन—(सभा पर्व),' परन्तु आपने मेरे सब प्रयत्नों पर पानी फेर दिया है । पाण्डवों का पतन होना ही चाहिए । उन्हें पुन द्यूत में बुलाया जाये । इस बार शर्त यह रखी कि जो जूए में हारेगा, वह भाइयों सहित तेरह वर्ष वन में बितायेगा, और तेरहवां वर्ष अज्ञातवास का होगा । धृतराष्ट्र की मनीषा दुर्योधन के सामने चल न सकी, विवश होकर धृतराष्ट्र ने कहा कि अभी तक पाण्डव इन्द्रप्रस्थ पहुँचे ही नहीं होंगे, अत उन्हें मार्ग में से ही वापिस बुला ले आओ ।

दूत गया, वे आये, द्यूत की शर्तें सुनाई गईं, शकुनि के कमाल से पाण्डव श्रेष्ठ युधिष्ठिर ने फिर जूआ खेला । परिणाम तो निश्चित ही था, हारे हुए पाण्डवों ने नारी कुमार सहित वन का वन गमन आरम्भ किया ।

जीवन मूल्यों के इस भीषण सघर्ष में द्वितीय चरण में 'धर्मराज युधिष्ठिर

की प्रमादजन्य महान भूल के साथ महाभारत के चरित्र नायकों की मनस्थली मे होने वाले अन्तर्द्वन्द्व भी सामने आते है जिनसे यह मत सहज ही म बन जाता है कि इस चरण का सघर्ष भौतिक अस्तित्व के स्तर से कही अधिक ऊँचा अस्मिता और स्वातन्त्र्यजन्य सैद्धान्तिक एव नैतिक स्तर का भारी सघर्ष था जिसके बिना जीवन मानवता के सद्गुण रूपी विकसित सुमन की सुवास से परिपूरित और अनुरजित नही होता, जिसके बिना सत्य के प्रति जिज्ञासा जागृत और सक्रिय नही होती, जिसके बिना सत्य का स्पर्श व साक्षात्कार अलभ्य ही रह जाता है।

'सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म' की अखण्ड चिन्मय दृष्टि से तो अनन्त सत्य ही नर जीवन का परम ध्येय है, परन्तु सत्य सामान्यतया तीन स्तरो पर भान्य है स्थूल, सूक्ष्म और परम स्तर पर। स्थूलसत्य इन्द्रियगोचर होता है, यदृष्ट सनष्ट न्याय से स्थूल सत्य परिवर्तनमूलक चरित्र वाला है। सूक्ष्म सत्य का बोध व दर्शन सतत मननशीलता, गहन विचार मन्थन और सत्पुरुष की वाक्सुधा के प्रवाह मे सभव है, परम सत्य के साक्षात्कार के मूल मे निर्विवाद रूप से सत्यानुग्रह ही होता है। सघर्ष के इस द्वितीय चरण मे मानव के जीवन मूल्यो के सत्यस्वरूप का दर्शन प्रथम दो स्तरो पर अधिक स्पष्ट और सुलभ है बनिस्पत कि तीसरे स्तर पर।

कौरव समुदाय के चरित्र नायक, इस चरण मे, प्रधानतया दुर्योधन, दु शासन, कर्ण, विदुर, विकर्ण और धृतराष्ट्र के अतिरिक्त भीष्म पितामह और द्रोणाचार्य हैं। दुर्योधन, दु शासन और कर्ण पाण्डवो को शत्रु मानते हैं, उन्हें मार डालने के लिए छलकपट रचते हैं षडयन्त्रकारी हैं और अधम से अधम काम करने मे भी सकोच नही करते। नारी जाति का प्रतिनिधित्व करने वाली द्रौपदी के प्रति, उसके चीरहरण के समय कहे और अनकहे शब्द और सकेत कितने अपमानपूर्ण अमानवीय अन्यायोचित और अधम थे, उनसे उनका मनोमालिन्य, चारित्रिक निकृष्टता राजोन्माद, और भोगलोलुपता का स्पष्ट आभास मिलता है। विदुर उत्तम विचार वाले हैं, स्वतन्त्र और श्रेष्ठ जीवन उनकी रहनी मे समाविष्ट है, अत वे निस्सकोच सत्य का प्रवचन कर देते हैं, दुर्योधन को डाँट भी देते हैं, धृतराष्ट्र को सही सलाह ही देते हैं चाहे दुर्योधन के भय से वे उसे क्रियान्वित कभी न करें। विकर्ण के मनोराज्य म सत्य तडप कर उठ बैठा और जो कुछ भी उसने द्रौपदी के समर्थन मे कहा, वह सत्य को स्वतन्त्र अभिव्यक्ति देने और स्वीकारने की तीव्र वेदना व उत्कण्ठा का परिचायक है। जीवन मूल्यो का सघर्ष विकर्ण की नैतिकता, न्यायपरक मानवीयता और सत्यपरायणता को स्पष्ट और व्यक्त कर गया। भीष्म की धर्म और गन्य

सम्बन्धी मिश्रित उक्ति दुर्योधन के प्रभाव के समक्ष उनकी क्षयोन्मुखी स्वतन्त्रता और भीरुता को ही प्रकट करती है। जो व्यक्ति प्रतिज्ञा-परायणता में सर्व-शिरोमणि और राज्य प्रशासन एवं समर विज्ञान में निष्णात और अग्रगण्य होने के नाते 'भीष्म' कहलाया, वह धर्माधर्म निर्णय के प्रश्न पर इस प्रकार कतरा जाये, मानव जीवन मूल्यों के संघर्ष को तनिक तीक्ष्णता ही प्रदान करता है। द्रोण तो बिल्कुल चुप रहे, आचार्यत्व ही भूल गये। द्रुपदजित अर्जुन की प्रिया और जीवन संगिनी की भरी सभा में दुःशासन लाज लेने पर उतारु हो जाये, और द्रोण अकृतज्ञतापूर्ण जड़ समाधि ले बैठें! लगता है, जब स्व अस्तित्व को आंच लगने की भीतिपूर्ण सम्भावना होती है, तब बुद्धिमानों और वयोवृद्धों का विवेक भी इसी में है कि वे स्व पद और स्व सम्मान रक्षार्थ, धर्म नीति आदि की मर्यादा से दूर, मौन का निष्कण्टक सहारा ले लें। द्रोण का मौन-व्यवहार भीष्म की मिश्रितोक्ति से अधिक अनुचित लगता है। परन्तु धृतराष्ट्र की शीघ्र निर्णयात्मक प्रतिक्रिया चाहे वह महात्मा विदुर की प्रेरक प्रताड़ना व मन्त्रणा से ही हुई हो, सभासदों को शान्त, द्रौपदी को सन्तोष और पाण्डवों को स्वातन्त्र्य जीवन का रस प्रदान करने वाली सिद्ध हुई। यहाँ, क्या यह ध्यातव्य नहीं है कि आदि पर्व के आरम्भ में (अनुक्रमणिका पर्व) जहाँ महर्षि व्यास दो महाद्रुमों का रूपक बांधते हुए धृतराष्ट्र को दुर्योधन नामक मन्युमय महाद्रुम का 'अमनीषि मूल' कहा है—'मूल राजा धृतराष्ट्रोऽमनीषी'—वहाँ उन्हीं वेदव्यास ने धृतराष्ट्र को पाञ्चाली को वर देने की घोषणा करते समय 'मनीषि' शब्द से अभिहित किया है। सारांशतः, जीवन मूल्यों के आन्तरिक संघर्ष की प्रक्रिया में धृतराष्ट्र मनीषायुक्त होकर धर्ममय और मान-वीय होना चाहता है, परन्तु दुर्योधन के आगे उसकी दाल नहीं गलती, और वह परिस्थितियों के दास की तरह जीवनयापन की विवशता में लुढ़क जाता है।

जीवन मूल्यों का संघर्ष दो मोर्चों पर प्रमुखतया लड़ा जा रहा है वैयक्तिक और सामाजिक, वैयक्तिक मोर्चा हृदय के अभ्यन्तर में है, सामाजिक मोर्चा व्यक्ति के बहिर्जगत में है। वस्तुतः अन्तर्जगत का संघर्ष ही बहिर्जगत् में व्यक्त होता है और सामाजिक जीवन का बहिर्संघर्ष मनुष्य के अन्तर्मन व बुद्धि को भी प्रभावित करता रहता है। संघर्ष मनुष्य के विकास का साधक बन जाता है यदि वह जीवन की सत्यता को सहजतया स्वीकारता हुआ अपने आचार विचार को बहुजनहिताय और सुखाय संस्कारित करता रहे, यह मार्ग दुर्गम है, अधिक सजगता, धैर्य और पुरुषार्थ की अपेक्षा करता है। पाण्डवों ने इसी पथ का अनुगमन और अनुसरण परिस्थितियों के क्रम व प्रसंग में साव-धानी, विवेक और अपूर्व धैर्य के साथ किया था। पाण्डव समुदाय में सभी

सदस्यों का अत्यन्त सक्रिय और साहसपूर्ण योगदान रहा था संघर्ष के इस चरण में। भीम ने स्वशक्ति का प्रयोग माता कुन्ती के आदेशानुसार ब्राह्मण की प्राणरक्षा और नगर को बकासुर की हिंसा-बलि में युक्त नशंसता और आतंक से सर्वथा उन्मुक्त कराने में किया, दूसरों को उसने स्वार्थ सिद्धि हेतु कभी उत्पीड़ित नहीं किया, स्वयं स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करने वाले दूसरों के जीवन स्वातन्त्र्य की पवित्रता व रक्षा का ध्यान रखते हैं। सभी पाण्डवों में यह गुण समान रूप से विकसित हुआ है। अतः जैसा कि पहले निवेदित-विवेचित हो चुका है संघर्ष के प्रथम चरण का मूल आधार अस्तित्व था और द्वितीय चरण का अस्मिताजन्य स्वतन्त्रता और स्वाभिमानजन्य समता व न्याय। इसका सम्यग् दर्शन इस चरण की सभी घटनाओं में सुलभ है परन्तु द्रौपदी चीर हरण में तो इस दर्शन की पराकाष्ठा है।

धर्मराज युधिष्ठिर द्यूतक्रीड़ा में सब कुछ हार चुके हैं परन्तु प्रत्येक दाँव के पीछे उनकी एक मात्र मनोभिलाषा हारा हुआ पुनः जीत लेकर स्वतन्त्र हो रहना है। स्वयं को हार जाने के बाद शकुनि के छलबल में आकर द्रौपदी को दाव पर लगाते हैं, तो उनके मन की अनकही इच्छा अवश्य ही यह रही होगी कि यह दाव यदि मुझे जीत प्रदान करती है तो हम सब पुनः स्वतन्त्र हो सकते हैं। इसी में उनका स्वाभिमान भी रक्षित हो सकता था परन्तु अतुल पराक्रमी पाण्डव अपने ज्येष्ठ भ्राता की द्यूत पराजय के फलस्वरूप अपना स्वतन्त्र अस्तित्व खो चुके हैं, उनकी अस्मिता लुट चुकी है और उनकी आँखों के सामने जब द्रौपदी को सभा में घसीट कर लाया जाता तब वे स्वतन्त्र कर्म हेतु खूब छटपटाते हैं, परन्तु उनकी धर्मपरायणता उन्हें कुछ करने नहीं देती। सबके सब काठ के बने से बैठे रहते हैं। भीमसेन के हृदय में तो क्रोध का ज्वालामुखी गड़गड़ाता है, परन्तु युधिष्ठिर के आदेश से मर्यादित वे नतमस्तक होकर सब कुछ सह लेते हैं। यह है आन्तरिक विकास का क्रम—व्यष्टिगत तन मन और बुद्धिबल की सीमाओं का अतिक्रमण करके समष्टिगत धर्म नियन्त्रित विश्व संविधान की गतिविधियों की बलिवेदी पर अपने स्वत्व को स्वाहा कर देना। पाण्डवों ने इस प्रक्रिया को तप की सरलता से अपनाया, इसलिए उनके चारित्रिक गठन में मानवीय स्वतन्त्रता, स्वाभिमान जन्य स्वावलम्बन एवं सत्यपरक आचरण का सदा प्राचुर्य रहा। उनके व्यक्तित्व में आत्मीयता, समत्व और स्वाधीनता के मूल्यों का समन्वय-सुमन खिलने लग गया। इसीलिए तो स्वयं धृतराष्ट्र को यह कहना पड़ा कि 'हे युधिष्ठिर! तुम में धर्म है, अर्जुन में धैर्य है, भीमसेन में पराक्रम है और नकुल-सहदेव में श्रद्धा एवं विशुद्ध गुरु सेवा का भाव है। अजातशत्रो! तुम्हारा भला हो।'

त्वयि धर्मोऽर्जुने धैर्य भीमसेने पराक्रम ।
श्रद्धा च गुरुशुश्रूषा यमयो पुरुषाग्रययो ।।
अजात शत्रो भद्र ते ।।

सभापर्व 73 15 16

द्रौपदी के प्रति धृतराष्ट्र के उद्गार न केवल द्रौपदी के जीवन मूल्यो के प्रति धतराष्ट्र की आदर बुद्धि का द्योतन करते हैं, परन्तु स्वय धृतराष्ट्र के हृदय मे मनीषा के नवो मेष एव धम के प्रति चेतना के अकुरन का परिचय देते हैं। चाहे वह नवोन्मेष और चेतना का अभ्युदय अल्पजीवी ही क्या न सिद्ध हुआ हो ! द्रौपदी के जीवन मे जिस प्रलयकारी सघष का दशन हमे उसके चीरहरण के समय होता है वैसा अयत्र कहीं नही होता। सभा, वृद्ध, धम और सत्य का ममस्पर्शी अर्थोद्घाटन जिस सरल चित्त से सकटापन्न काल मे द्रौपदी अत्यन्त सयमित भाषा और शालीनता के साथ कर सकी है, वह उसके व्यक्तित्व के आ तरिक विकास की अनुपमता का असदिग्ध प्रमाण है। सभी सभासदो को अपने विवक जय प्रश्न से कि जुए मे पहले महाराज युधिष्ठिर हारे थे या पहले वे उसे हारे थे, सवथा निरुत्तर ही नही किया परन्तु दुरमन के खेमे के विकण की मनस्वता को इतना झकझोर दिया कि वह दुर्योधन के विरोध मे द्रौपदी के समथन मे सत्य को प्रकट करन मे अपने आपको गौरवान्वित और सौभाग्यशील समझने लगा। सत्य के सहारे व अवलम्बन से निस्तेज और न कुछ व्यक्ति भी तेजोमय और महत्त्वपूण बन जाता है। इसके अतिरिक्त विकण की प्रशसा म और कोई विशेष आधार भी तो नहीं ह समूचे महाभारत मे। द्रौपदी को सर्वाधिक लोकप्रिय बना देन वाला कथानक भी तो यही ह कि घोर अपमान के असह्य और असहाय क्षणो म उसने अपन अभ्यन्तर म जीवत्व की सभी सीमाओ का अतिक्रमण करने वाले श्रीकृष्ण का विश्वात्मा के साथ, प्राथना द्वारा, अपने को समर्पित कर जोड दिया। कृष्णा का कृष्ण भाव मे आरोहण होते ही मानवेन्द्र और धमरक्षक कृष्ण ने वसन रूप मे अवरोहण करके द्रौपदी की लाज ही नहीं रखी, परन्तु समस्त धर्मानुरागियो को प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा आश्वस्त कर दिया कि जिधर धम ह, उधर कृष्ण है, और जिधर कृष्ण है, उधर विजय है—

'यतो धमस्ततो कृष्ण यतो कृष्णस्ततो जय'।

द्रौपदी की प्राथना मे कृष्ण के प्रति—सत्य के प्रति—अनन्यता का बल था, क्षुद्र व्यक्तित्व के सभी वलाधयो के टूटत ही, भद्र विराट के आश्रय की अनन्यता के प्रकट प्रभाव की गरिमा को व्यक्त करन वाला यह ज्वलन्त उदाहरण है। द्रौपदी के लज्जा रक्षण मे 'वसन रूप भये श्याम' न धमरक्षण के साथ साथ सत्य

की सर्वोपरिता का ही प्रकटन नहीं किया परन्तु यह भी सिद्ध किया कि मानव जीवन में श्रेष्ठ जीवन मूल्यों के मार्ग की यात्रा अत्यन्त कठिन यात्रा है, इस यात्रा में बार बार पथ तिमिराच्छन्न होता है, द्वन्द्व की धुन्ध से मन की आंख बन्द सी हो जाती है, प्रज्ञा पर पक्षाघात हो जाता है, चारों ओर घोर अन्धकार छा जाता है, कुछ नहीं सूझता। दुर्योधन की द्यूतसभा में द्रुपदसुता की ऐसी ही विपन्न एवं निरीहमयी स्थिति थी। परन्तु उसने अपने हृदय में आस्था का एक दिया जलाया जिससे उसे उस घनीभूत अन्धकार में भी सद्पाथ आलोक का सम्बल मिलता रहा। इस क्षण युधिष्ठिर के अन्तर्मन में भी इसी आलोक का बल था। अपने अनोखे और प्रज्ञाप्रदीप्त समालोचन ग्रन्थ 'महाभारत का काव्यार्थ' में श्री विद्यानिवास मिश्र बड़ी कलामयता के साथ लिखते हैं—

'महाभारत वीर गाथा नहीं है, युद्ध गाथा भी नहीं है, वह मनुष्यत्व की कठिन यात्रा काव्य है। इस यात्रा में बार बार अंधेरा घिरता है, कुछ नहीं सूझता है, पर एक दिया उस अन्धकार से निष्कम्प भाव से जूझता रहता है—उसकी दीवट सत्य की है, उसमें तेल तप का है, बत्ती करुणा की है, लौ क्षमा की है। बड़े यत्न से यह दिया जलाया जाता है, क्योंकि न इतना तप आदमी संचित कर पाता है, न इतना दृढ़ आधार सत्य का उसके पास खड़ा हो पाता है, न इतनी करुणा उससे पूरी जाती है, न इतनी क्षमा (अविकृत क्षमा) उसमें अपने को जला कर दिपती रह सकती है। तब भी अन्धकार की चुनौती है, मनुष्य को दिया जलाना ही है।'

'सत्याधारस्तपस्तैलं दयावर्तिः क्षमा शिखा।
अन्धकारे प्रवेष्टव्ये दीपो यत्नेन वार्यताम्॥'

सारतः मानव जीवन मूल्यों के संघर्ष के द्वितीय चरण में महर्षि व्यास बार बार बताते हैं कि मनुष्य की जीवन यात्रा—और वह भी पुरुषार्थ चतुष्टय के धर्म पथ की यात्रा—ऋजु और विपदा विहीन यात्रा नहीं है, बड़े टेढ़े मेढ़े मोड़ और भयावह उतार चढ़ाव आते हैं परन्तु संयम, श्रद्धा और सत्यपरायणता के सहारे भय उपस्थित हो जाने के संकटकाल में निर्भीकता और धैर्य से उस भय का नाश करना ही नरत्व है नरोत्तमता की पहचान है—'आगतं तु भयं दृष्ट्वा प्रहर्त्तव्यम् भीतवत्' (शान्तिपर्व 140 33)। इसी में अस्मिता के संरक्षण-संवर्द्धन का सार सर्वस्व है, आत्मस्वातन्त्र्य और सुख-दुःख में साम्यावस्था की प्राण प्रतिष्ठा है, श्रेष्ठ जीवन का नरोत्तम के धरातल पर आह्वान और उद्घाटन है।

द्वितीय द्यूत में भी सब कुछ हार कर पाण्डवों ने धर्मराज युधिष्ठिर के साथ द्रौपदी को लेकर तेरह वर्ष की वनवास यात्रा का श्री गणेश किया। वृद्धा माता कुन्ती को समझा बुझा कर महात्मा चाचा विदुर के साथ रहने हेतु राजी कर लिया। तेरहवाँ वर्ष अज्ञातवास का वर्ष था। इस वनवास की पूर्णावधि समाप्त होने पर पाण्डव द्यूत की शर्तानुसार हस्तिनापुर लौटकर आये और स सम्मान स्वतन्त्र जीवन यापन हेतु, रहने योग्य, राज्य में स्थान मांगा। दुर्योधन सुई की नोक जितनी भूमि भी देने के पक्ष में नहीं था, अतः उसने कुछ भी देना स्वीकार नहीं किया। क्षत्रियोचित युद्ध द्वारा ही दुर्योधन से कुछ प्राप्त किया जा सकता था, परन्तु धर्मराज युधिष्ठिर युद्ध के पक्ष में नहीं थे। सन्धि-वार्ताएँ आरम्भ हुईं। सञ्जय, कौरवाधिप धृतराष्ट्र की ओर से, पाण्डवों के पास यह कहने के लिए आये कि धर्मज्ञजन पदार्थ वृद्धि नहीं रखते, भिक्षावृत्ति से ही निर्वाह करने में उनका गौरव है, अतः उन्हें कौरव राज्य छोड़कर अन्यत्र कहीं उदर पूर्ति हेतु चले जाना चाहिए, पाण्डवों की ओर से श्रीकृष्ण शान्ति-दूत बनकर गये, परन्तु दुर्योधन के असम्मानजनक तथा अन्याय पूर्ण व्यवहार ने कौरव पाण्डवों के बीच युद्ध अनिवार्य कर दिया।

पाण्डवों के सामने भारी चुनौती थी। दुर्योधन के नेतृत्व में कौरवों ने आक्रामक रूप धारण कर लिया, अधर्म मनुष्य को पाशविक, हिंसक और उग्रवादी बना देता है, इसमें कोई संशय नहीं, वह दूसरों की सम्पत्ति और स्वतन्त्रता का अपहरण करके स्वयं की स्वार्थ सिद्धि के साम्राज्य विस्तार को सर्वथा न्यायपरक, मानवोचित और धर्मानुकूल मानने व घोषित करने में रत्ती मात्र भी संकोचातुर नहीं होता, उल्टा, युद्ध और राजनीति में सब कुछ उचित ही है, ऐसा डिम डिम घोष करने में वह मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा मानता है। ऐसी स्थिति में क्या धार्मिक चिन्तन व चरित्र वाला जन व जनसमुदाय धर्म की ओट में की जाने वाली अमानवीयता को चुपचाप सहन करता रहे या न्यायोचित मार्ग और मानवीय धर्म की सही प्रतिष्ठा हेतु उसका डटकर प्रतिकार करे? क्या धर्म मनुष्य को भीरु बनाता है या तेजोमय? क्या स्वधर्म और स्वतन्त्रता की रक्षा हेतु आतंकवादी अधर्म के विरोध में मनुष्य का न्यायोचित विद्रोह करना धर्मानुकूल कर्म नहीं है? क्या धर्म, आपत्तिकाल में, उग्र और आक्रामक रूप धारण करके मानवीय जीवन के आदर्श मूल्यों की रक्षा करने से गौरवान्वित नहीं होता? यदि धर्म प्राण राज्यसत्ता न्यायी, मानवता प्रोत्साहिनी और सामर्थ्यवान् नहीं होगी, तो क्या प्रजा में अनीति और आतंक, अधर्मता और उद्दंडता का भयावह और अकल्याणकारी तन्त्र नहीं फैल जायेगा?

क्या अधम के साथ समझौता करके मानवता की रक्षा और मानव जीवन की पावन स्वतन्त्रता की वृद्धि की जा सकती है ? पाशवी शक्ति के पुजारियों के सामने घुटने टेक देना और कहना कि धर्म का मर्म इसी में है कि हम विद्रोह न करें, शान्त रहें क्योंकि अधर्म के प्रतिकार में अहिंसा का हनन होता है क्या धर्म की अवज्ञा नहीं ? अधर्म और अन्याय को सहन करना क्या मानवता विरोधी तत्त्वों को बढ़ावा देना नहीं है ? धर्मप्रिय युधिष्ठिर इन प्रश्नों के समाधान का दर्शन धर्मभीरुता में करने लगे। वे 'शठं प्रति सत्यम्' बुरे के प्रति (विरोध में) सत्य का ध्वजारोहण करने में इसलिए संकोच करने के पक्षधर थे कि इस ध्वजारोहण में अपार जन धन का ध्वंस अवश्यम्भावी था। इस भीषण परिस्थिति में 'क्या धर्म है—क्या अधर्म है'— प्रश्नजन्य जो भारी चुनौती सामने आयी थी, उसका पाण्डवों ने किस विध निवारण किया यह मानव जीवन मूल्यों के संघर्ष में इस तृतीय चरण का मूल कलेवर है जिसका विवरण विवेचन घटना क्रम की प्रासंगिकता में ही अपेक्षित है।

प्रमुख घटनाओं की पृष्ठभूमि और मूल्याङ्कन

ज्योंही सभी पाण्डव वनगमन कर लेते हैं त्योंही दुर्योधन, कर्ण, दुःशासन आदि एक साथ बैठकर यह परामर्श करते हैं कि कोई ऐसा कदम उठाया जाना चाहिए कि पाण्डवों का वन में ही सर्वनाश हो जाये और दुर्योधन के एक छत्र राज्य में कौरवों का ही बोल बाला हो। दुर्योधन की दृष्टि में पाण्डव शीघ्र मार डालने योग्य शत्रु हैं जिनके अस्तित्वोन्मूलन में ही कौरवों की श्रेय सिद्धि है। शकुनि आदि दुर्योधन के मन्तव्य का समर्थन करते हैं और कर्ण बड़े उत्साह से साथ कहता है कि किसी को कानोंकान खबर ही नहीं मिले और हम सब मिल कर वन प्रदेश में भ्रमण करते हुए पाण्डवों को सदा की नींद सुला दें ताकि हम भविष्य में अभय होकर राज्योपभोग करें—

तेषु सर्वेषु शान्तेषु गतेष्वविदितां गतिम्।
निर्विवादा भविष्यन्ति धार्तराष्ट्रास्तथा वयम्॥
वनपर्व 7 19

इस निर्णय की क्रियान्विति हेतु वे सब अपने अपने भव्य रथों में सशस्त्र बैठकर सेना सहित कूच करने ही वाले थे कि महर्षि वेदव्यास वहाँ आते हैं, धृतराष्ट्र एवं उनके पुत्रों से संवाद स्थापित करते हैं और उन्हें पाण्डव हत्यार्थ वन में जाने से रोक देते हैं। यह है पाण्डव विरोधी दुर्योधन दृष्टि और इसी मूल दृष्टि से दुर्योधन आदि सभी जनों के जीवन मूल्यों की सृष्टि हुई है। कितनी संकीर्ण और कितनी स्वार्थ परक ! कितनी अमानवीय, कितनी जघन्य और कितनी द्वेषयुक्त !

इसके ठीक विपरीत है युधिष्ठिर की धर्मपरक अत्यन्त उदार और सर्व-हितकारी मानवीय बुद्धि जिसकी उर्वरा भूमि में से अंकुरित और पल्लवित जीवन मूल्यों की श्रेष्ठता मानवता के तत्त्वों का, बिना भेदभाव और समता के दर्शनानुकूल, पोषण करने वाली सिद्ध हुई और हो रही है। एक समय जब पाण्डवों को वनवास भोगते काफी समय व्यतीत हो गया तब दुर्योधन को लगा कि वनवास की अवधि समाप्त होने से पहले, उनकी जीवन लीला की इति श्री कर दी जाये तो वह निरापद राज्योपभोग कर सकेगा। इस मलिन उद्देश्य से उत्प्रेरित होकर कर्ण, दुःशासन, दुर्योधन आदि अपने पूरे रनवास और बड़ी सेना सहित वन प्रदेश में पहुँचे। एक स्थान पर सुरम्य सरोवर था जहाँ इन्द्र की प्रेरणा से गन्धर्वराज चित्ररथ विहार कर रहा था। मदोन्मत्त, दुर्योधन, कर्ण आदि ने उस पर आक्रमण कर दिया क्योंकि कौरव श्रेष्ठ स्वयं वहाँ जल क्रीड़ा करने का इच्छुक था। युद्ध में कर्ण के छक्के छूट गये, वहाँ से वह प्राण रक्षार्थ भाग खड़ा हुआ, दूर निकल गया। गन्धर्वराज के अपार सैन्यबल और मायाबल के सामने दुर्योधन का न केवल पूर्ण दर्पदलन और तेजो भंग ही हुआ, अपितु सभी रानियों और कौरव कुल वधुओं सहित दुर्योधन को कैद कर के आकाश मार्ग से उन्हें ले उड़ा। कौरव दल में सर्वत्र हा हाकार मच गया, 'त्राहि माम्' के शब्द नभ मण्डल से भूतल पर वनवासी वेश में विचरण और विराम कर रहे युधिष्ठिर और सभी पाण्डवों ने सुने, इतना ही नहीं कौरवों के अमात्य और अन्य मन्त्रीगण जो गन्धर्वराज के प्रहार से बच गये थे, वे आर्तनाद करते हुए धर्मराज युधिष्ठिर के शरणापन्न होकर याचना करने लगे कि वे शीघ्र गन्धर्वराज का पीछा कर दुर्योधन और कुरु वधुओं को रिपु-बंद से मुक्त करावें। कौरव कुल की मर्यादा खतरे में है—

प्रियदर्शी महाबाहुर्धार्तराष्ट्रो महाबलः ।
गन्धर्वैर्ह्रियते राजा पार्थास्तमनुधावत ।।
दुःशासनो दुर्विषहो दुर्मुखो दुर्जयस्तथा ।
बद्ध्वा ह्रियन्ते गन्धर्वै राजदाराश्च सर्वशः ।।

वनपर्व, 242 11 12

यह आर्तनाद सुनते ही युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन को उनकी रक्षार्थ भेजते हैं, कहते हैं उन्हें शीघ्र छुड़ा कर लाओ। भाइयों को इस आदेश का औचित्य समझ में नहीं आता। उनके सामने भीम को कालकूट विष देकर मार डालने, लाक्षागृह दहन, द्रौपदी का चीर हरण के दृश्य दौड़ आते हैं। परन्तु मानव-श्रेष्ठ धर्मराज नरोत्तम हैं। उनकी दृढ़ मान्यता है, हमें अपने प्रति किये गये अन्याय का प्रतिकार स्वयं लेना उचित है, यह भीरुता ही नहीं नृशंसता होगी

कि हमारे जीवित रहते हमारे भाइयों और कुलवधुओं का अपमान और वध हो जाये, क्योंकि वे हम ही तो हैं—'वय पचाधिक शतम्'—पाँच और सौ मिलकर ही तो हम होते हैं। उनका आदेश गर्जन—'उत्तिष्ठत नरव्याघ्रा सज्जीभवत मा चिरम्'—सुनते ही अर्जुन, भीम, नकुल, सहदेव जाते हैं, तुमुल संघर्ष होता है—'भृतुमुलयुद्धम्'—परन्तु अन्ततोगत्वा पराक्रमी पाण्डव गंधर्वराज चित्ररथ को परास्त करके दुर्योधन सहित सभी भाइयों और राजदाराओं को छुड़ा लेते हैं। और युधिष्ठिर उन्हें गले लगाकर हस्तिनापुर निष्कण्टक लौट जाने के लिए अनुरोध करते हैं। युधिष्ठिर की दृष्टि में मानव अपने आप में साध्य है। मानवीय गौरव की रक्षा में ही मानव की गरिमा है। पर कौरवों की दृष्टि में मानव स्वार्थपूर्ति का एक यन्त्र मात्र है।

इन दोनों जीवन दृष्टियों में आकाश पाताल का अन्तर है या नहीं? युधिष्ठिर की अस्मिता असूया की सीमाओं से बहुत परे समष्टि की आत्ममयी उदारता में पली होने के कारण सत्यधारिणी सामर्थ्य से अभिभूत है। परन्तु दुर्योधन की अस्मिता असूया की सीमाओं में आबद्ध व्यष्टि की संकीर्ण विद्वेषता में पली होने के कारण विनाशकारिणी अहंताजन्य भय छलवादी क्षुद्रता से सनी हुई है। युधिष्ठिर चाहता तो वह पराये हाथों दुर्योधन, दुःशासन, शकुनि आदि सभी को मरने देता, पर वह मानववादी उदारता से ओतप्रोत न केवल स्वयं स्वतन्त्र रहना पसन्द करता है परन्तु वह सबकी स्वतन्त्रता के रक्षण बद्धता का समर्थक है। चित्ररथ गन्धर्वपति को भी उन्होंने स सम्मान विदा किया है। नरोत्तम जीवन के मूल्यों और नराधम जीवन के मूल्यों के बीच इतने बड़े अन्तराल का स्पष्ट और सर्वस्वीकार्य उदाहरण अन्यत्र कहाँ मिलेगा! यह वही दुर्योधन है जिसने शकुनि के छलबल से इन्हीं युधिष्ठिर को हराया था, उनका भरी सभा में असह्य अपमान किया था, द्रुपदसुता पाञ्चाली जो इन्द्रप्रस्थ की सम्राज्ञी और कुरुकुल की अनिंद्य और श्रेष्ठ वधू थी, उसे दिगम्बरा करने, दासी के रूप में महल में रखने और सब प्रकार से लाञ्छित, कलंकित और अपमानित करने में कोई कसर न उठा रखी थी, उसे युधिष्ठिर ने, विद्वेष वैमनस्य को भुलाकर दुश्मन की कैद से तुरन्त छुड़ाया और कुलवधुओं की मान मर्यादा का धर्मोचित रक्षण किया और अपने सहज स्वातन्त्र्य प्रेम, समत्व दर्शन तथा मानवीय सद्भाव का विलक्षण परिचय दिया। यह सब इसलिए हो सका कि धर्मराज की चेतना सामान्य सांसारिक चेतना का अतिक्रमण करके सर्वात्मभाव के उन्नत चैतन्य स्तर पर प्रतिष्ठित हो चुकी थी। उनकी यह अटल धारणा थी कि मनुष्य दैनंदिन जीवन और विशिष्ट प्रसंग के अन्तर्गत जो चिन्तन और आचरण करता है वही सब जीवन दर्शनों का मूलाधार है।

उन्होंने सदा यही सोचा कि कैसे स्वकीय जनों को धर्म—मानवीय गौरव गरिमा तथा मानव स्वातन्त्र्य और समता का पोषक धर्म— की राह पर ले जाकर सुखानुभूति दें। तदर्थ ही वे क्षमा के तेजोमय पुंज रहे, करुणा की प्राणवन्त मूर्ति बन कर जिये, उनका धर्म इसी प्रेरणा का प्रकाश-पुंज था।

तभी तो दुर्योधन इनकी क्षमामय उदारता से अछूता न रहा सका। जब गन्धर्वराज चित्ररथ से छुड़ा कर युधिष्ठिर ने, यह जानकर भी कि दुर्योधन आदि सब पाण्डवों के घोर अनिष्ट की इच्छा से वहाँ आये थे, कौरवों का आदर सहित हस्तिनापुर प्रस्थान करने हेतु कहा, तब दुर्योधन का मानस सज्जनता से सुवासित हुए बिना न रह सका। जीवन-मूल्य की संघर्ष स्थली बन गया उसका मन! जिस शत्रु समझ कर छल बल आदि से मार डालने की अनेक योजनाएँ बनायी, उसी युधिष्ठिर ने ही उसे राजदाराओं-सहित संकट से उबारा और उसके साथ अतुल मैत्री, अचिन्त्य क्षमा और मानवोचित उदारता का व्यवहार किया— इस भाव से इतना विह्वल और द्रवीभूत हो गया दुर्योधन कि वह अपने आपको धिक्कारने लगा, और स्व दोषों के प्रति तनिक जागृत होकर अन्तर्मुखी विचार द्वारा अपने पर ही कटाक्ष करने लगा कि 'मैं निश्चय ही मेरे दोषों के कारण भ्रष्ट हो गया हूँ— 'आत्म दोषात् परिभ्रष्ट' (वनपर्व 249 17)—अब मैं हस्तिनापुर जाकर भीष्म, द्रोण आदि पुण्यात्माओं से कैसे कुछ बोल पाऊँगा— 'कथं वदयामि तानहम्'। अब तो बस धरती फटे और मैं उसमें समा जाऊं—'

यद्यपि दुर्योधन का यह निर्वेद हृदय की गहराई में से ही उठा था और उसकी आत्म ग्लानि का परिचायक था, परन्तु उसमें स्थायित्व का रस नहीं था क्योंकि शीघ्र उसके अन्तःकरण में कर्ण के वाक्यों का पाण्डव-विरोधी प्रभाव पुनः उदित हो गया जब उसने कहा 'मृतस्य भद्राणि कुतः कौरवेय कुतो जयः' ओ, कौरव श्रेष्ठ! मरे हुए को सुख कहाँ, जय कहाँ (वनपर्व 252 39)। दुर्योधन को ढाढस बंधाते हुए कहा कि तुम एक महान् योद्धा, धीर और अच्छे शासक हो, शत्रुओं का दलन तुम्हारा दायित्व है, तुम्हारी जीत भी निश्चित है। अपने शस्त्रों को छूकर कर्ण ने शपथ ग्रहण की और प्रतिज्ञा की कि मैं पाण्डवों पर विजय प्राप्त करके रहूँगा—'विजेष्यामि रणे पाण्डून्' (वनपर्व 252 41/2)।

युधिष्ठिर की मनुष्योद्धारिणी उदारता ने केवल दुर्योधन के अन्तस् को ही द्रवित नहीं किया (चाहे वह श्मसान वैराग्य ही सिद्ध हुआ), शकुनि जैसे छलाधिप और षड्यन्त्रकारी के मन को भी निर्मलता के रस का आस्वादन करा दिया। वह तो इतना प्रभावित हुआ युधिष्ठिर की इस कारुणिक क्षमा से,—

जिसस दुर्योधन को ग धवबन्द से मुक्ति ही नही, पूरे कुरु रणवास का भी प्राण दान मिला था—द्रवीभूत होकर उसने दुर्योधन को प्रथम बार, सम्भवत अन्तिम बार, यह सलाह दी—

प्रसीद मा त्यजात्मान तुष्टश्च सुकृत स्मर।
प्रयच्छ राज्य पार्थाना यशो धममवाप्नुहि ॥
व प 251 8

'प्रसन्न हो, दुर्योधन ! अपने प्राणो को त्यागने का भाव छोड द। सताप रग, शाति से पाण्डवो द्वारा किये गय उपकार (सुकृत) का स्मरण कर और उन्ह उनका राज्य आदर पूवक लौटा दे। एसा करके यश और धम का सहज अजन कर।' क्योकि इस राज्य म उनकी पतक सत्ता व अधिकार है, वह उन्हे लौटा कर सुख का जीवन व्यतीत कर—'पित्र्य राज्य प्रयच्छैपा तत सुखमवाप्स्यसि (वनपर्व 251 91/2)।

परन्तु कण की उपयुक्त प्रतिज्ञा कि 'हे राजन् ! म भली भाँति जानता हूँ कि इस युद्ध मे तुम्हारी विजय अटल है, प्रतिज्ञा करता हूँ, अपने हाथ म आयुध लेकर कि मेरा कथन सवथा सत्य है' दुर्योधन के निर्वेद पर पानी फेर देती है—

अनुजानीहि मा राजन् ध्रुवो हि विजयस्तव।
प्रतिजानामि ते सत्य राजनायुधमालभे ॥
व प 253 23

सग का रग जम बिना नही रहता। युधिष्ठिर की प्रकट सज्जनता का सग अल्पकालीन ही था, इसलिए दुर्योधन आदि के मानस म उसकी छवि ज्यादा समय तक न टिक सकी, कण आदि के सग का सातत्य दुर्योधन के निर्वेद का निमूल करने म शीघ्र प्रभावकारी सिद्ध हुआ। पर यह निर्विवाद सत्य है कि दुष्ट से दुष्ट प्रकृति वाले मनुष्य म भी सज्जनता और सदाचारी जीवन के मूल्यो का स्वागत समादर सम्भव है, उनका विकास भी सम्भावित है यदि उसके जीवन म धमावलम्बियो की आत्मीयता का सतत साहचय उपलब्ध रहे।

भीम और हनुमान के मिलन म भी इस सत्य की उक्ति का स्पष्ट प्रमाण है। जब जब भीम को दुर्योधन आदि पर गुस्सा आता था, तब तब युधिष्ठिर के धैय-वद्धक, सन्तोष प्रदायक और मानव धम-उद्बोधक वचन भीम के बल और उत्साह को मगलमय जीवन प्रवाह म मोड देने का काम करते थे। बाल्यावस्था म जब दुर्योधन न विष देकर भीम के वध का षडयन्त्र किया तब स लेकर द्रौपदी चीरहरण म दुर्योधन और दु शासन की दु सह्य निलज्जता और अपमानकारिता तक युधिष्ठिर के सतत प्रभाव सग मे रहने क कारण ही भीम की धधकती हुई क्रोधाग्नि बार बार शा त हो जाती थी। वनवास काल म युधिष्ठिर

के इस सग-सातत्य का निमल प्रभाव भीमसेन की हनुमान के साथ मुलाकात मे सूर्योदय के समय खिलते हुए कमल की तरह स्पष्ट दिखाई देने लगा।

एक दिन जब पाण्डव गधमादन पवत शिखर पर चढ रहे थे तब बदरिकाश्रम के समीप पहुँचने पर भीषण वर्षा और वात प्रवाह के शान्त होते होते एक सहस्रदल वाला कमल द्रौपदी के पास आ गिरा। द्रौपदी के अनुरोध पर कि वैसे ही कमल पुष्प उसे चाहिए भीम उस दिशा की ओर तेजी से चल पड़ा जिधर से उडता हुआ यह एक पद्म आया था। रास्ते मे एक बडा सा बन्दर अपनी विशाल पूछ से माग अवरुद्ध किये सोये हुए था। बाद मे पता चला कि वह महाकपि तो स्वय हनुमान है और वायुपुत्र होने से भीम उनका छोटा भाई है। वनवास की पूव भूमिका आदि का सम्यक् बोध होने पर हनुमान ने भीम से कहा कि 'मैं तुमसे मिलकर अत्यन्त प्रसन्न हूँ, अगर तू कहे तो मैं सब कौरवो को मारकर, दुर्योधन को बन्दी बनाकर तुम्हारे चरणो मे लाकर डाल दू—'बद्ध्वा दुर्योधन चाद्य भावयामि तवान्तिकाम्' (वनपव (151 11)'—तब भीम कहता है कि 'नही', आपकी प्रसन्नता ही मेरे लिए पर्याप्त है।' युधिष्ठिर के हृदय की विशालता और निस्पृह मानवीयता ने भीम के हृदय मे भी तदनुकूल परिवतन का सहज सम्पादन कर दिया। इस से हनुमान अतीव प्रसन्न हुए और उन्होने अपनी ओर से वर प्रदावाणी मे कहा—

तदाह वहयिष्यामि स्वरवेण रव तव।
विजयस्य ध्वजस्यश्च नादान् मोक्ष्यामि दारुणान्॥
वप 151/17

अर्थात्, मैं अर्जुन के रथ की ध्वजा पर बैठूगा और जब तुम अट्टहास करके शत्रुदल पर आक्रमण करोगे तो मैं तुम्हारे स्वर मे अपना गजन मिलाकर ऐसा भयावह हुकार करूगा जो शत्रुओं के प्राण हरण करने वाली होगी, जिसमे उनकी हार और तुम्हारी विजय निश्चय ही होगी।

इस कथानक से स्पष्ट है कि पाण्डव मनोजयी अन्तर्यात्रा के पथ पर आरूढ थ और जीवन मूल्यो का सघष उत्तरोत्तर उच्चतम मनोभूमियों को पार करता हुआ समष्टिगत आत्मीयता के अनन्त के स्पर्शार्थ गतिशील था।

भीम ही क्या, अर्जुन की इन्द्रलोक की यात्रा भी इस सघष की उद्दामता और चरमता का द्योतन करने वाली यात्रा है। घोर तपश्चर्या की तन्मयता के क्षणो मे परात्पर शिव पशुपति की प्रसन्नता से पशुपत आदि दिव्यास्त्रो के प्राप्त करने के पश्चात् इन्द्र के निमन्त्रण पर अर्जुन इन्द्रलोक गमन करते है, वहा वे सगीतज्ञो और कलामर्मज्ञो से नृत्य, वाद्यकला, गायन कला आदि का दिव्य एव उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त करते हैं देवताओ से दिव्यास्त्र और अद्भुत अस्त्र नान

विद्या मे परिशिक्षित और पारगत हो जाते हैं और थ ततागत्वा इन्द्र के परोक्षादेशानुसार इन्द्रलोक की अतुल सुन्दरी अप्सरा उर्वशी जब अर्जुन के शयनकक्ष मे रात्रि मे प्रवेश करती है, तब अर्जुन के वामयम और सदाचार की अनपेक्षित विद्यमानता से उसके विकसित और विलासी मुग्धी जीवन मूल्यो के सघष का परिपाक हमारे समाने आता है। उवशी अपने दिव्य सौन्दय और यौवन के उन्माद मे अर्जुन के मनोरञ्जनाथ और तृप्त्यथ अपनी कामकला मयता का प्रदशन करती है परन्तु अर्जुन के हृदय म उसके प्रति शिशुत्व जाग उठता है और वह उवशी मे माता कुन्ती और माद्री के मध्य भाव रूप से दशन करता है। जसे शिशु, गुरुजनो और मातृदेवी का, प्रेमपूरित भाव विभोरता से अभिनन्दन अभिवादन करता है, वैसे ही अर्जुन का उवशी के प्रति निमल व्यवहार होता है—'तदाभिवादन कृत्वा गुरुपूजा प्रयुक्तवान्' (वनपव, 45 9)। उसने असदिग्ध और स्पष्ट शब्दो मे आदरपूवक कहा—

गुरुदारं समाना मे निश्चयेन वरानने।
यथा कुन्ती च माद्री च शची चैव ममानघे।
त्व हि मातृवत्पूज्या रक्ष्योऽह पुत्रवत् त्वया॥
वप 45 47

इन शब्दो को सुनकर स्तब्ध और दग सी रह गई उवशी, परन्तु वह शीघ्र बोल पडी, 'पाथ! ऐसे सम्बोधन से मुझे लज्जित न करो। अप्सरा कभी माता और बहन नही बनती। मैं तुम्हारी कामना करके ही यहाँ आई हू।' अर्जुन ने मन्द स्वर मे दोहराया, 'माता आपकी यह कामना सफल नही हो सकती। आप हमारे वश की माता है और देवराज इन्द्र की अप्सरा। इन्द्र मेरे गुरु हैं, मुझ पर आपकी कृपादृष्टि बनी रहे।' उवशी की समस्त चेष्टाओ के विफल हो जाने पर उवशी आक्रोश से भर गई और उसने धनञ्जय को शाप दिया—'शशापाथ धनञ्जयम्'—कि 'तुम एक वष तक पृथ्वी पर निर्वीय रहोगे, यह मैं कामिनी रूप से कह रही हूँ, परन्तु कि तुमने मुझे माता कहा है, यह शाप तुम्हारे लिए वरदान सिद्ध होगा।' उवशी यह कह कर चली गई। देवराज इन्द्र आये और सब कुछ जानकर उन्होने अर्जुन से कहा—'हे, अनघ! तुम्हें भूतल पर तेरहवें वष मे अज्ञातवास करना है। वीर! उवशी के दिये हुए शाप को तुम उसी वष पूरा कर लोगे। नतक वेश और नपुसक भाव से एक वष तक इच्छानुसार विचरण करके तुम फिर अपना पुसत्व प्राप्त कर लोगे।

तेन नतन वेषेण अपुस्त्वेन तथैव च।
वषमेक विहृत्यैव तत पुंस्त्वमवाप्स्यसि॥
वनपव 45 59

अर्जुन सहर्ष लौट आता है इन्द्रलोक से सब कलाओं और देवविद्याओं में निष्णात होकर, परन्तु आता है, उर्वशी के शाप से ग्रसित होकर भी ! उर्वशी के प्रति अर्जुन के उदात्त व्यवहार में युधिष्ठिर के आदर्श जीवन की अमिट छाप अंकित है। श्रेष्ठ जीवन के मूल्यों की विकसित भूमि में यहाँ जिस आदर्श भूमिका का निर्वाह अर्जुन ने किया है, वह धर्मराज युधिष्ठिर के प्रभाव और गौरव का परिचायक है। निस्सन्देह, अर्जुन, मनोजयी की दृष्टि से, युधिष्ठिर के आदर्श के सन्निकट है। उन्नत चेतना की दृष्टि से योगेश्वर और धर्मराज को छोड़कर अर्जुन का कोई साम्य नहीं। जीवन मूल्यों के संघर्ष में अर्जुन तेजोमय और तीव्रारोही नायक है। यद्यपि वह आद्योपान्त धनुर्धर रूप से ही प्रख्यात है, परन्तु नर जगत् का अत्युच्च कोटि का प्रतिनिधि होने से वह मानवीय गुणों, मानव स्वातन्त्र्य और हृदय की पावन सरलता का प्रदीप्त पुन्ज भी है। वस्तुत यह युधिष्ठिर की वेदव्यासजी से प्राप्त, *अमूल्य प्रतिस्मृतिविद्या का* ही प्रताप था, जिसे स्वयं अर्जुन ने अपने ज्येष्ठ भ्राता से प्राप्त किया, कि *अर्जुन इन्द्र सभा में रह कर भी अपने लक्ष्य से न विस्मृत हुआ, न च्युत।*

अज्ञातवास के तेरहवें वर्ष में पाँचों पाण्डव भाइयों और द्रौपदी ने जिस कौशल और कोमलता से विराट नगर में मत्स्यराज की सभा में परिचर्या की भूमिका निभाई, उससे स्पष्ट है कि मानव जीवन के मूल्यों का संघर्ष मानो अपनी सफलता के शिखर पर विजय पताका फहरा रहा हो। किसी को भी अन्त तक पता न पड़ सका कि विराटराज के साथ ब्राह्मण वेष में रहने और जूआ खेल कर उन्हें विनोदमय रखने वाला कङ्क नहीं स्वयं महाराज युधिष्ठिर थे कि विराट की महारानी के महल में सेविका के रूप में काम करने वाली श्यामल सुन्दरी सैरन्ध्री नहीं कुरुकुलवधू इन्द्रप्रस्थ की सम्राज्ञी द्रौपदी थी जो अपने पाँचों पतियों सहित अज्ञातवास भुगत रही थी, कि बल्लभ नाम का रसोईया जो विराटराज की भोजन सभा में साल भर नियुक्त रहा वह महापराक्रमी भीम था और इसी ने गन्धर्व बन कर मत्स्यराज के महासेनाध्यक्ष कीचक का चुपचाप वध किया था, कि वृहन्नला नामक नपुंसक हिंजड़ा जिसने विराटराज की पुत्री उत्तरा और अन्य कुलाङ्गनाओं को सङ्गीत, वाद्य एवं नृत्य कला की अद्भुत शिक्षा दी, तथा जिसने राजकुमार उत्तर का सारथित्व स्वीकार कर समस्त कौरव सेना को, जो महारथियों और अतिरथियों—भीष्म पितामह द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, अश्वत्थामा महावीर कर्ण, दुर्योधन आदि— द्वारा अभिरक्षित थी, अकेले ही परास्त कर न केवल विराटराज के गो धन को अपहरण से मुक्त कराया परन्तु मत्स्यराज के गौरव-स्वातन्त्र्य को अक्षुण्ण रखा और यशस्वी बनाया, वह और कोई नहीं महाधनुर्धर गाण्डीवधारी वीर अर्जुन था, कि गौओं

थोर अश्वा की रखवाली करने वाले ग्रन्थिक और तन्त्रीपाल वस्तुत नकुल और सहदेव ही थे।

स्पष्ट है धम की रक्षा करने मे ही सच्ची वीरता है, और समझौता करने मे भीरुता। अधम, अन्याय और पाशविक अमानुषीय प्रहारा से धर्म की रक्षाथ सज्जना, धमज्ञा और पराक्रमी पुरुषा का आक्रामक मुद्रा धारणी ही पडती है, युद्ध यदि अनिवाय हो जाये तो डट कर सघपरत होना पडता है, और यदि छद्मवेष धारण करना पडे तो वह भी नि सकाच पूर्णकलात्मकता से करना ही चाहिए। पाण्डवा का अज्ञातवास और उस काल म घटित भीषण युद्ध इसी मूल सत्य का प्रत्यक्ष उदाहरण है कि जब मानवता खतरे म हो, धार्मिकता को अन्याय और विधर्मियो के कुकर्मों की प्रचण्ड आँच लगती हो, और मनुष्य जीवन की गारव गरिमा और स्वतन्त्रता सक्टापन्न हो जाय ता धम प्राण मनुष्या का यह पावन दायित्व हो जाता है कि व अपनी सामथ्य और शक्ति को सुष्ट नेतृत्व मे बटोर कर न्याय, मानवीयता और स्वतन्त्रता के रक्षणार्थ अपनी पूरी शक्ति खपा दे। पाण्डवो ने ऐसा ही किया जब द्यूत क्रीडा की शत के अनुसार तेरह वर्षों के अज्ञातवास सहित वनवास भुगतने के बाद युधिष्ठिर ने इन्द्रप्रस्थ का अपना पैतक राज्य मागा और दुर्योधन ने वह दने से इन्कार कर दिया।

दुर्योधन को गव था कि उसके पास अथाह शक्ति है, इतना ही नही वह श्रीकृष्ण से उनकी सारी नारायणी सेना भी माग कर ले आया था। अत वह अपने को अजेय समझता था। छलपूण परन्तु भव्य स्वागत की सामग्री से उसने पाण्डवा के मामा माद्री के भाई राजा शल्य को भी अपनी तरफ कर लिया था। दुर्योधन युद्ध के लिए तैयार था, वह पाण्डवो को उनका राज्याधिकार नही देगा, वे कुछ भी करें। धृतराष्ट्र के दूत सजय को युधिष्ठिर ने बड़े आदरपूर्वक कहा—अब भी सब कुछ पहले के समान हो सकता है। जसा तुम कह रहे हो मैं शाति धारण कर लूगा, परन्तु भरतवश शिरोमणि सुयोधन मेरा राज्य लौटा दे, इन्द्रप्रस्थ पूववत् मेरे पास रहे'—

अद्यापि तत् तत्र तथैव वतता, शान्ति गमिष्यामि यथा त्वमात्थ।
इन्द्रप्रस्थे भवतु ममैव राज्य सुयोधना यच्छतु भारताग्रय ॥
उद्योगपव 26 29

इस पर सजय ने बडी अटपटी, अस्वीकाय और अन्यायोचित बात कही, और वह भी धम के आलोक की ओट मे—

न चेद् भाग कुरवोऽन्यत्र युद्धात्
प्रयच्छारस्तुभ्यमजात शत्रो।
भैक्षचर्यामन्धक वृष्णिराज्ये
श्रेयो मन्ये न तु युद्धेन राज्यम् ॥ उद्योगपव 27 2

अर्थात्, हे अजातशत्रो ! यदि कौरव तुम्हें राज्य का कुछ भी भाग न दें, तो तुम्हारे लिए यही श्रेष्ठ और सराहनीय है कि तुम अन्धक और वृष्णि राज्य में भिक्षा माँग कर ही जीवनयापन करो। इसी में तुम्हारा कल्याण है कि तुम युद्ध न करो, ऐसी मेरी मान्यता है।

संधियों के दौर में, शान्तिप्रिय धर्मराज युधिष्ठिर ने अन्ततोगत्वा यहाँ तक कह दिया कि "हे संजय। तुम महाप्राज्ञ हो। ऐसा करो कि सुयोधन हम पाँच भाइयों को सम्मान जीवनार्थ पाँच गाँव तो दे दे। हम तो इसमें भी शान्ति धारण कर लेंगे—

> भ्रातृणां देहि पञ्चानां पञ्च ग्रामान् सुयोधन।
> शान्तिर्नोऽस्तु महाप्राज्ञ शान्तिरिति सह संजय॥
>
> उद्योगपर्व 31 20

दुर्योधन को यह प्रस्ताव भी स्वीकार्य नहीं था। अतः युद्ध की अवश्यम्भाविता को जानकर श्रीकृष्ण भी द्वारिकापुरी से आ गये। उन्हें पता चला कि राजा द्रुपद ने संधि का प्रस्ताव लेकर अपना पुरोहित हस्तिनापुर भेजा था, किन्तु दुर्योधन ने कैसा कहला भेजा कि राज्य व गाँव की बात तो दूर है, सुई की नोक के बराबर भी जमीन देने के लिए वह तैयार नहीं है—

> यावद्धि तीक्ष्णया सूच्या विध्येदग्रेण केशव
> तावदप्यपरित्याज्यं भूमेर्नः पाण्डवान् प्रति
>
> उद्योगपर्व 127 25

इस पर युधिष्ठिर ने पुनः श्रीकृष्ण, पाञ्चाल नरेश, मत्स्यराज और अन्य अनेक समागत नृपतियों के साथ विचार विमर्श किया। श्रीकृष्ण इस बार स्वयं शान्तिदूत के रूप में दुर्योधन की सभा में गये। हस्तिनापुर में सर्वत्र प्रसन्नता की लहर दौड़ गयी कि कृष्ण शान्ति का प्रस्ताव स्वयं लेकर आये हैं। प्रथम दिन वे विदुर के घर रहे, और दूसरे दिन वे कौरवों की सभा में उपस्थित हुए। कौरव सभा में आये हुए कई राजाओं को यह जानकर विस्मय हुआ कि दुर्योधन शान्ति के पक्ष में नहीं है, वह पाण्डवों के सर्वनाश का इच्छुक है, यहाँ तक कि उसने कृष्ण को बाँध कर कैद कर डालने तक का निर्णय कर लिया है। 'जैसे इन्द्र ने बलि को बलात् बन्दी बना लिया था, वैसे हम भी हृषिकेश कृष्ण को कैद कर लें'—

> वयमेव हृषीकेशं निगृह्णीम बलादिव।
> प्रसह्य पुरुषव्याघ्रमिन्द्रो वैरोचनिं यथा॥
>
> उद्योगपर्व 130 5

जब कृष्ण कौरव सभा में पहुँचे तो उन्हें उत्तम आसन पर बिठाया गया।

यहाँ पितामह भीष्म, धृतराष्ट्र, कर्ण, द्रोण, कृपाचार्य, शकुनि, दुःशासन, अश्वत्थामा आदि कौरव पक्ष के सभी योद्धा सिंहासनस्थ थे। कृष्ण ने सभा को सम्बोधित करते हुए कहा—

'कौरव और पाण्डव दोनों एक ही कुल में पैदा हुए हैं। दोनों ही हमारे मित्र हैं। जरा-सी बात के लिए युद्ध करना हितकर नहीं होता इससे क्षत्रियों का नाश हो जायेगा और देश से धर्म और सत्य का भी लोप हो जायेगा। यह युद्ध किसी प्रकार उचित नहीं है। पाण्डवों का कोई दोष भी नहीं, उन्हें छल से जुए में हराया गया। दुर्योधन की ओर से शकुनि का जुआ खेलना भी अन्यायपूर्ण था। फिर भी जुए में हारने पर पाण्डवों ने वनवास तथा अज्ञातवास का कठोर कष्ट सहा। महारानी द्रौपदी का अपमान हम सभी के लिए अपमान की बात थी। पर पाण्डवों ने कभी भी कौरवों का अहित नहीं किया। यहाँ तक कि चित्ररथ ने जब दुर्योधनादि समेत कौरव कुलाङ्गनाओं को बाँध लिया था तो पाण्डवों ने उन्हें मुक्त कराया। इसी प्रकार कौरवों ने विराट के ऊपर आक्रमण करके पाण्डवों को सताने का घोर उपक्रम किया। इतने कष्ट सहन के उपरान्त भी युधिष्ठिर केवल आधा राज्य लेकर ही शान्तिपूर्वक रहना चाहते हैं।' सम्भाषण के उपसंहार के रूप में कृष्ण ने कहा, 'कुरुओं और पाण्डवों में वीरों का नाश हुए बिना शान्ति हो जाये, मैं यही प्रार्थना करने आया हूँ—

कुरूणां पाण्डवानां च शमः स्यादिति भारत।
अप्रणाशेन वीराणामेतद्याचितुमागतः॥

कृष्ण के वक्तव्य की सत्यता का सारी सभा में स्वागत हुआ, पर दुर्योधन की क्रोधाग्नि धधक उठी और वह कृष्ण को बंद कर लेने का आदेश देने लगा। दुःशासन उन्हें बन्दी बनाने हेतु आगे बढ़ा परन्तु भीष्म की प्रताड़ना से वह सहम गया। धृतराष्ट्र ने दुर्योधन के सामने अपनी विवशता ही प्रकट की, यद्यपि उसने कृष्ण के संधि प्रस्ताव को बहुत उचित ठहराया था—शमे शर्म भवेत्तात' शान्ति में ही सब का कल्याण है—(उ प 124 19) पर दुर्योधन ने तो संधि प्रस्ताव को यह कह कर ठुकरा दिया कि राज्य का पूरा अधिकार केवल दुर्योधन का ही है, युधिष्ठिर का नहीं। पाण्डवों की यह अनधिकार चेष्टा है कि वे मुझसे आधा राज्य माँग रहे हैं। यह सब कुटिल कृष्ण की चाल है। मैं यह कभी नहीं होने दूँगा।

कृष्ण कौरव सभा से लौट आये। शान्ति प्रस्ताव भंग हो गये। युद्ध की विषमता अपरिहार्य हो गई। कुन्ती अपने पुत्र कर्ण से मिली। राधेयपुत्र ने यह

जानकर भी कि वह सूर्य द्वारा प्राप्त कौन्तेय ही है, दुर्योधन के पक्ष से लड़ने का निश्चय अटल रखा, परन्तु उसने यह प्रतिज्ञा अवश्य की कुन्ती के पाँच पुत्र अवश्य जीवित रहेंगे—अर्जुन सहित या फिर कर्ण सहित।

कौरवों की ग्यारह अक्षौहिणी सेना के महासेनाध्यक्ष भीष्मपितामह थे और पाण्डवों की सात अक्षौहिणी सेना का नेतृत्व सूत्र द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न ने सम्भाला। कर्ण का दम्भ इस समय अपने पूर्ण ज्वार पर था। उसने प्रतिज्ञाबद्ध घोषणा की कि जब तक कौरव सेना का संचालन सूत्र, महासेनाध्यक्ष पद से, भीष्म करेंगे तब तक वह अपने हाथों में युद्धार्थ शस्त्र नहीं उठायेगा। परन्तु अर्जुन ने एक वीर योद्धा और सेनानी की भाँति धृष्टद्युम्न के सेनापतित्व में पुरजोर लड़ने में कोई आपत्ति नहीं उठाई।

युद्ध की अनिवार्यता से अवगत होते ही महर्षि व्यास धृतराष्ट्र के पास दौड़े आये। उनका सारा समझाना व्यर्थ हुआ। आसुरी रोष, अमानुषीय स्वभाव और सत्ता का मद जब विवेक की सारी सीमाओं का उल्लंघन कर देता है और स्वेच्छाचारी निरंकुशता अपने विकराल यौवन के पूर्ण उभार पर होती है तो मनुष्य यह कहे बिना नहीं रहता—

असौमयाहतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।

दुर्योधन के मानस पर यह दर्प छाया हुआ था। व्यास ने स्वज्ञानचक्षु से काल की महिमा का पर्यवलोकन किया। काल की दुर्धर्ष सत्ता का इस महाकाव्य में उन्होंने कई स्थलों पर चित्रण किया है। काल सब की जड़ है, उत्थान, पतन, विकास, विनाश आदि का घटनाचक्र इसी में प्रवर्तित होता रहता है। अत स्थिति की दारुण अवस्था को समझ कर, धर्म की बात को न मनवा सकने पर, धृतराष्ट्र की विवशता (मोहजन्य) और दुर्योधन की मानव स्वातन्त्र्य और न्यायविरोधी कट्टरता (दम्भजन्य) को युद्ध की अवश्यम्भावी एवं कारण भूता भूमिका मान कर, अपने मन की निश्चलता को बिना खोये व्यास अपने आश्रम को लौट गये। युद्ध के समय में वे बार बार आते थे, युद्ध की विनाशकारी परिसमाप्ति के समय वे फिर आये, शोक संतप्त युधिष्ठिर को धर्मोचित मानवीय सन्तोष बुद्धि और सान्त्वना प्रदान की। परन्तु यह इतिहास की विडम्बना रही कि व्यास की सन्तान व्यास ही के सामने विनाशग्रस्त हो गई और वे ब्रह्मज्ञानी, त्रिकालज्ञ और दिव्यसत्ता से विभूषित होते हुए भी युद्ध को टाल न सके, दुर्योधन आदि को न्याय पथ पर ला न सके।

सामान्यत मनुष्य इतना स्वार्थी, स्व केन्द्रित और स्व चिन्तन और

व्यवहार को ही सही और श्रेष्ठतम मानने वाला होता है कि वह स्वय को ईश्वर तुल्य और स्व निणय का ही अ तिम याय घोषित करता है। इतना ही नहीं, यदि वह राजकीय सत्ता से विभूषित हुआ तो वह न तो सत्पुरुषो की मानवोचित विचारधारा को मा यता प्रदान करता है, और न ही वह अपने अर्थोपाजन और कामतृप्ति के सामने किसी मानवीय आदश या स्वत त्र मानव जीवन के उन्नत मूल्यो की परवाह करता है। दुर्योधन ने ऐसा ही किया। अत दुर्योधन और उसके साथियो और समथको का काव्यगत कथानक सत्ता के घोर दुरुपयोग, मानवीय श्रेष्ठता और उत्तम जीवन के मूल्यो पर अनक विध अमानुषीय प्रहार, धम और याय की ओट म सत्य और स्वत त्रता का निर तर अवमूल्यन और पाण्डवो के अनुचित विनाश पर अपने सुख और सत्ता के नशस विस्तार का वह कथानक है जिसकी परिणति महाविध्वसकारी महाभारत युद्ध मे हुई जिसमे न तो जय को भोगने का उत्साह शेष रहा और न ही पराजय पर रुदन करने वाला, धतराष्ट्र के अतिरिक्त, कोई मानव हृदय जीवित बचा। सब कुछ बर्बाद हो गया।

अन्ततोगत्वा, महाभारत की का यकथा को पूण विराम देने के पूव महर्षि वेद यास की करुणा उन महाप्राज्ञ के समाधि सुमेरु से विगलित होकर निम्नोक्त विश्व-विख्यात श्लोक मे प्रवाहमान होती हुई आज भी मानव मात्र को पूण स्वात त्र्य, पर्याप्त ऐश्वय स्वच्छ कामोपभोग, सामाजिक पद प्रतिष्ठा, कलात्मक जीवन और वशिष्ट व्यक्तित्व के विकास हेतु धर्मावलम्बता का अमर स देश दे रही है—

ऊर्ध्वबाहु विरौम्येष न च कश्चिच्छृणाति मे।
धर्मादर्थश्चकामश्च स किमथ न सेव्यत॥

स्वर्गारोहणपव 5 62

पूरे महाभारत म धम का ऐसा मूल्यवान स देश कि धम ही मानव जीवन के चरम एव सर्वाङ्गीण विकास का मूल है, समूचे विश्व का नियामक तत्त्व है और वह मानव द्वारा चाहने पर, धीर वीरता द्वारा जीवन म चरित्राथ व क्रियान्वित किया जा सकता है—केवल एक ही व्यक्ति बार बार देता है, और वह है महर्षि वेद यास, इस मूल्यवान स देश को समूचे महाका य मे सम्यक् रूप से धारण करने वाले यक्ति पाण्डव और विदुर ही है, विदुर समय समय पर धृतराष्ट्र को नीति और मर्यादा की बात कहते हैं पर वे बातें अग्नि से तपे तवे पर जल बि दुओ की भाँति छू होकर रह जाती हैं। सवत्र धम की ग्लानि हैं। पाँचो पाण्डव वस्तुत धमप्रिय जीवन जीना पस द करते हैं, इसीलिए श्रीकृष्ण धम के पुनरोदय के लिए, जन जीवन और राज्य प्रशासन म धम की

पुन प्रतिष्ठा के लिए धर्मशील युधिष्ठिर और धर्मानुरागी उनके भ्रातागणों का, कौरवो द्वारा प्रवर्तित अधर्म के कुचक्र का सर्वोन्मूलन हेतु, साथ देते हैं। कंसवध के बाद कृष्ण कंस के श्वसुर जरासंध का वध भीम के द्वारा करवाते हैं क्योंकि भीम की विजय और प्रतिष्ठा मे धर्म, न्याय और स्वतन्त्रता की अधर्म, अन्याय और स्वाधीनता हन्ती सत्तावादिता पर स्थायी विजय और स्वच्छ प्रतिष्ठा है। यह सब महत्त्व कार्य बिना युद्ध, बिना जन हिंसा और बिना भीषण रक्तपात के कृष्ण सम्पूर्ण कर लेते हैं क्योंकि वे स्वयं धर्ममूर्ति हैं। कंस और जरासंध की सत्ता का उन्मूलन, जैसा कि पूर्व पृष्ठो मे विवेचित है, मथुरा-मगध की अधिनायकवादी, अमानवीय और अन्यायपूर्ण प्रशासन तन्त्र की धुरी का मानवोचित विध्वंस था। युधिष्ठिर की धर्मध्वजारोहिणी राजसूय यज्ञार्थ समवेत अनेक राजाओं की पाण्डव सभा में शिशुपाल का वध उसी तन्त्र को ध्वस्त करने वाला क्रान्तिकारी तीसरा कदम सिद्ध हुआ। दुर्योधनाधीन कौरव सत्ता का अधिनायकवादी केन्द्र हस्तिनापुर यद्यपि अब अकेला था, पर उसके रक्षण पोषण में तत्कालीन प्रसिद्ध बड़ी बड़ी हस्तियाँ भी लगी हुई थी—पितामह भीष्म जो अनेक दृष्टियो से महाभारत के आदर्श पात्रो में गण्य है, द्रोणाचार्य जो धनुर्विद्या मे परशुराम के समकक्ष कीर्तिमान् है, ब्रह्मास्त्र प्रयोग मे एक मात्र प्रवीण जो कौरव-पक्षी द्रोणपुत्र अश्वत्थामा है, सूर्यपुत्र कौन्तेय कर्ण जिसने दुर्योधन को जीवनपर्यन्त साथ देने और पाण्डवो का परास्त और कौरवो का विजयी बनाने की कौरव दल प्रोत्साहिनी घोषणा की है, तथा कृपाचार्य, विकर्ण, समितिंजय, सौमदत्ति आदि अनेक अतिरथी और महारथी एवं युद्ध विशारद राजे महाराजे दुर्योधन के पक्ष मे अपनी-अपनी सैन्यशक्ति के साथ युद्धार्थ कटिबद्ध थे। कृष्ण के समस्त शान्ति समर्थक संधि प्रस्तावो के दुर्योधन द्वारा निर्ममता से ठुकरा दिये जाने के पश्चात् जब उस अनिवार्य कौरव-पाण्डव भीषण महायुद्ध की प्रलय कारिणी अग्नि मे दोनो पक्षो में से मात्र दस वीर पुरुष ही जीवित बच रहे तो जिस घोरताप और दुःखानल में धृतराष्ट्र का हृदय चीत्कार कर जल उठा, उसी भयंकर और अचिन्त्य पश्चाताप और निराशा के अग्निकुण्ड मे पाण्डव-श्रेष्ठ धर्मराज भी जल भुन कर प्रबल निर्वेद की अवस्था मे लुप्त गये। इसी वैदाजन्य वैराग्यानल के साम्य में युधिष्ठिर के चरित्र की उज्ज्वल धर्ममयता स्पष्टतया प्रकट होती है।

एक विजयी सम्राट भी उसी गहन निर्वेद और पश्चाताप की अन्त अग्नि से दग्ध है, जिससे पराजित और मृत कौरवो के पिता भी विदग्ध है। इस एक विशेष दृष्टि से युधिष्ठिर इस महाकाव्य की महान् दुःखान्त नायकात्मा है, जिसे अनचाहे भीषण युद्ध मे दूसरा का मारने का दुष्कृत्योपरान्त घोर हत्या कर्म

करना पडता है, और बडे भारी और अनिच्छा से बोझिल पावों का हस्तिनापुर के राज्यसिंहासन पर खींच कर ले जाना पडता है। विजेता के हृदय की यही सहज गहरी दु खानुभूति जो युद्ध मे मरे और हारे हुए कौरवो के प्रति सच्चे विलाप म प्रवाहयुक्त होती है उसे दु खात शाही शोभा से अनुवेष्ठित करती है, और इस महाकाव्य के नायक की मानवोपायको धर्मप्रियता, स्वत त्र विवेक-शीलता और मानव मात्र की गरिमा के प्रति नैसर्गिक आदर बुद्धि का साक्षात्कार कराती है। वनवास काल म जब भीम और द्रौपदी भी युधिष्ठिर के जीवन दशन और मूल्यो पर कटु व्यग और दु सह्य कटाक्ष करते है, तब भी वे अविचल भाव से श्रेष्ठ मानवोचित विचार और व्यवहार के आचरणार्थ ही निमल वचन कहते ह। भीम तो विप्लवी रोष मे उ ह यहाँ तक कह उठता है कि उनका दशन तो वस्तुत एक नपुसक का दशन है, सकट के समय शान्त अनुवरता मात्र भीरुता का लक्षण है, परमवीर योद्धा को तो यही शोभा देता है कि वह अ याय और आतक, अमानवता और अपराध का प्राणप्रण से घोर विरोध करता हुआ, आवश्यकता पडने पर, प्राणो का उत्सग कर दे। द्रौपदी भी कठोर वनवासी जीवन को, जो पाण्डवो की दुबलता के कारण उन पर बलात् थोपा गया है, बार बार कोसती है, अपने दुर्भाग्य पर विलाप करती हुई रोष और निराशा भरे शब्दो मे युधिष्ठिर को दोषी ठहराती है पुरुषार्थहीन मनुष्य दैव के हाथ की कठपुतलियाँ हैं, विधि उ ह ठीक उसी तरह थपेडे मारती हुई घसीटती है जैसे सरिता की वेगमयी धारा वृक्ष को ढकेलती रहती है। पर तु युधिष्ठिर की निश्चल प्रज्ञा मे कोई तूफानी प्रतिक्रिया नही होती। भीम को व सदाचार, नीति और युद्ध की मर्यादाओ सम्ब धी उपदेश करते है और द्रौपदी को वे नियति के विधान की अटल महानता का रहस्य समझाते है और उससे वे सानुनय अनुरोध करते है कि विश्व की अचूक व्यवस्था के अस्तित्व मे वह अपना सही विश्वास और श्रद्धा रखे। युधिष्ठिर की यह अडिग धारणा है कि जब तक मानव के अ त करण मे करुणा, शा ति और पवित्रता का अभ्युदय नही होता तब तक विश्व के विधान का बोध सम्भव नही है, कि विश्व उस समय तक प्रगति नही कर सकता जब तक मनुष्य शठ का प्रतिकार शठता स करता रहेगा, छल और हिंसा के प्रत्युत्तर म छल और हिंसा का ही व्यवहार करेगा। युधिष्ठिर का जीवन शा ति, सहिष्णुता, मानवीय करुणा और स्वत त्र चि तन का मूक और मुखरित स देश है। वस्तुत युधिष्ठिर की वाणी और व्यक्तित्व म महाभारत के महान मानवीय स देश को उस समय सशक्त अभि व्यक्ति मिलती है जब यक्ष के मार्मिक और रहस्यसचित प्रश्नो की चुनौति स्वय उनके और उनके शेष पाण्डव भाइयो के जीवन मरण की परीक्षापूण कसौटी बन जाती है,

और युधिष्ठिर के अन्तःकरण में पहले से चल रहे और इस घटना से त्वरित जीवन मूल्यों का संघर्ष अपनी चरम सीमा को स्पर्श कर रहा होना है। जिस कला ममज्ञता व कौशल से वेदव्यास ने अपने इस महाकाव्य के प्रत्येक पर्वारम्भी मंगलाचरण में नर, नरोत्तम, नारायण, व्यास और सरस्वती के अद्भुत तादात्म्य को सवार कर मानव के स्वरूप का दिव्य, मानवीय और परिपूर्ण निधारण किया है, उसी रचना चातुर्य और प्रज्ञा पटुता से उन्होंने यक्ष युधिष्ठिर संवाद के अत्यन्त रोचक, प्रेरक और शिक्षामूलक माध्यम द्वारा मानव जगत् में जीवन मूल्यों के संघर्ष का अतिशय मार्मिक और सर्वोपकारी चित्र प्रस्तुत किया है।

वनवास काल की बात है बारह वर्ष समाप्ति पर हैं, तेरहवें वर्ष के अज्ञातवास की चिन्ता में मग्न एक दिन युधिष्ठिर जब कृष्ण सहित सभी भाइयों के साथ तत्सम्बन्धी विचार विमर्श कर रहे थे कि उनके सामने एक रोता हुआ ब्राह्मण आ खड़ा हुआ। रुदन का कारण पूछने पर उसने बताया कि एक हरिण अपने सींग में अटक जाने के कारण, ब्राह्मण की अरणी लेकर जंगल की ओर भाग गया है और उस अरणी के बिना वह अग्नि होत्र के लिए अग्नि कैसे प्रज्वलित करेगा। उसका नित्य नियम भंग हो जायेगा। करुणावश पाण्डवों ने हरिण का पीछा किया, वह हाथ न आया, घनी झाड़ियों में दिखते दिखते एकदम ओझल हो गया। सभी भाई एक बड़े छायादार बरगद वृक्ष की शीतल छाया में बैठकर ग्लानि और लज्जा की अनुभूति करने लगे कि वे एक ब्राह्मण का इतना छोटा सा काम भी पूरा न कर सके। थकान और प्यास ने उस ग्लानि को और तीव्रतर कर दिया। वे कुछ और आगे बढ़े, तो कुछ ही दूर स्थित एक सरोवर के दर्शन हुए। वहीं सब बैठ गये। नकुल जलाशय में से पानी लेने गया। ज्योंही वह सरोवर में उतरा एक आवाज ने उसे ललकारा—'ओ, माद्रीनन्दन! दुस्साहस न करो। यह सरोवर मेरे अधीन है। पहले मेरे प्रश्नों का उत्तर दो, फिर पानी पीओ।' कंठ सूख रहा था, प्रश्नों को सुनने और उत्तर देने का समय कहाँ था। उसने पानी पी लिया, पीते ही ढेर हो गया। नकुल न लौटा तो युधिष्ठिर ने सहदेव को भेजा। फिर वही चुनौती, फिर वही अवज्ञा, फिर वही परिणाम! अर्जुन आये, भीम आये, और उनकी भी वही दुर्गति हुई, सभी निष्प्राण सरोवर के तट पर मर कर गिर गये। अब युधिष्ठिर की बारी थी। ज्योंही उन्होंने जल पीने हेतु तृषापूर्त्ति मुद्रा धारण की कि जलाशय में से आवाज आई—'सावधान! तुम्हारे भाइयों ने मेरी बात न मान कर पानी पिया था। परिणाम देख लो। यह तड़ाग मेरे अधीन है। मेरे प्रश्नों का उत्तर दो, फिर पानी पीकर तृषा शान्त करो और पानी ले भी जाओ।'

मा तात साहस कार्षीमम पूर्व परिग्रह ।
प्रश्नानुक्त्वा तु कौन्तेय तत पिब हरस्व च ॥

आरण्येयपर्व 313 30

और मेरे पूछने पर यदि तुमने मेरे प्रश्नों का उत्तर नहीं दिया, तो तुम भी यम लोक के पाँचवें अतिथि हो जाओगे—

त्वं पञ्चमो भविता राजपुत्र
न चेत् प्रश्नान् पृच्छतो व्याकरोषि ॥

आ प 313 29

यह सुन कर युधिष्ठिर कौतूहलवश सविस्मय पूछने लगे– पृच्छामि भगवस्तस्मात् को भवानिह तिष्ठति'—भगवन् ! मैं सानुनय पूछ रहा हूँ कि आप कौन हैं और किस रूप में यहाँ विराज रहे हैं ? प्रश्न के प्रत्युत्तर में आवाज गूंज उठी–

यक्षोऽहमस्मि भद्रं ते नास्मि पक्षी जलेचर ।
मयैते निहता सर्वे भ्रातरस्ते महौजस ॥

आ प 313 36

तुम्हारा कल्याण हो । मैं जलचर पक्षी नहीं यक्ष हूँ । तुम्हारे ये सभी महान् तेजस्वी भाई मेरे द्वारा ही मारे गये हैं ।' तब युधिष्ठिर ने यक्ष से प्रश्न पूछने हेतु विनम्र निवेदन किया— सत्पुरुष कभी आत्म प्रशंसा में नहीं रमते आप प्रश्न करिये, मैं स्वप्रज्ञानुसार प्रश्नों का उत्तर अवश्य दूंगा—

यदात्मना स्वमात्मानं प्रशंसेत् पुरुषर्षभ ।
यथा प्रज्ञं तु ते प्रश्नान् प्रतिवक्ष्यामि पृच्छ माम् ॥

आ प 313 44

युधिष्ठिर का यह कहना ही था कि प्रश्नों के मेघ मूसलाधार वर्षण करने लगे श्लोक संख्या पैंतालीस (45) से लगाकर श्लोक संख्या एक सौ तैंतीस तक यक्ष और युधिष्ठिर के प्रश्नोत्तरों की झड़ी लगी रहती है आगामी अध्याय के सारे उनतीस (29) श्लोकों में यह संवाद अपनी पूर्णता पर आता है, जब यह रहस्य खुलता है कि वह अरणी वाला ब्राह्मण, वह मृग, वह अदृश्य बोल, वह प्रकट यक्ष और कोई नहीं स्वयं 'धर्मराज' ही थे जिनके अंश से युधिष्ठिर की अन्य पाण्डवों की भाँति में त्रोत्पत्ति हुई थी ।

उन अनेक रहस्यमय प्रश्नों के समाधान मूलक उत्तर में— कि सूर्योदय किसके कारण होता है—किं स्विद् आदित्य उन्नयति ?, उसे अस्त कौन करता है—कश्चैनमस्तं नयति ?, वह किस अधिष्ठान पर प्रतिष्ठित है— कस्मिश्च प्रतितिष्ठति ? —युधिष्ठिर कहते हैं कि ब्रह्म ही सूर्योदय का कारण है, धर्म (शाश्वत नियम) उसे अस्त करता है, और सत्य में वह प्रतिष्ठित है। इन उत्तरों

से स्पष्टतया यह लक्षित होता है कि युधिष्ठिर यह जानते हैं और विश्वास करते हैं कि समूचा ब्रह्माण्ड ऋत और सत् के अटल नियमों द्वारा व्यवस्थित और संचालित है। यक्ष के अन्य प्रश्न पर कि ब्राह्मण की प्रतिष्ठा किस पर आश्रित है? युधिष्ठिर कहते हैं कि यह पैतृक सम्पदा, वंश परम्परा और वंशानुगत ज्ञानार्जन पर आश्रित नहीं है, परन्तु यह सर्वभूत हित मूलक समाजसेवा में नेतृत्व प्रदान करने वाले निर्मल चरित्र पर आधारित है। इससे युधिष्ठिर की यह मान्यता व्यक्त होती है जिसमें आदर्श ब्राह्मतेज और ब्रह्मविद्या में नेतृत्व का स्वरूप दर्शन होता है। यक्ष अब एक जटिल प्रश्न कर बैठता है— मनुष्य की आत्मा क्या है— 'किं स्विदात्मा मनुष्यस्य'?, देवता से दिया हुआ मित्र कौन है— किं स्विद् दैवकृत सखा?', मनुष्य के जीवन का आलम्बन कौन है—'उपजीवनं किं स्विदस्य?', और मनुष्य जीवन का श्रेष्ठतम आचरण क्या है—'किं स्विदस्य परायणम्?' इसके समाधान में युधिष्ठिर शीघ्र कह बैठते हैं— 'पुत्र ही मनुष्य की आत्मा है, पत्नी ही देवता प्रदत्त सखी है, मेघ ही जीवन का आलम्बन है, और दान ही मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ आचार है।' (313–51) अन्ततोगत्वा नानाविध प्रश्नों के पूछ लेने पर (शायद आधुनिक स्वतन्त्र भारत में जन सेवा आयोग के विशेषज्ञ भी इतने और ऐसे प्रश्न न करते होंगे) यक्ष का पटाक्षेप प्रश्न आता है—

> को मोदते किमाश्चर्यं कः पन्था का च वार्तिका।
> ममैतांश्चतुरः प्रश्नान् कथयित्वा जलं पिब॥
> आ प 313 114

सुखी कौन है? आश्चर्य क्या है? मार्ग क्या है? और वार्ता क्या है? मेरे इन चार प्रश्नों का उत्तर दो और जल पीओ।

युधिष्ठिर ने चार श्लोकों में इन प्रश्नों का उत्तर दिया—'जिस पुरुष पर ऋण न हो, जो परदेश में न हो, वह अपने घर में शाक पात पका कर भोजन करने वाला सन्तोषी सुखी है', 'संसार में सदा जीव मरते हैं किन्तु जो जीवित बचे हैं वे सोचते हैं कि वे कभी न मरें— यही सबसे बड़ा आश्चर्य है', तर्क मात्र से क्या होता है, श्रुतियाँ भी भिन्न भिन्न हैं, एक ही ऋषि नहीं है जिसका मत प्रमाण माना जाय तथा धर्म का तत्त्व गुहा में निहित है अर्थात् अत्यन्त निगूढ है, अतः जिससे महापुरुष जाते रहे हैं, वही मार्ग है', इस महा मोह रूपी कड़ाहे में भगवान काल समस्त प्राणियों को मास और ऋतु रूप करछी से उलट पलट कर सूर्यरूप अग्नि और रात दिन रूप ईंधन द्वारा राँध रहे हैं, यही वार्ता है।

इस संवाद से स्पष्ट है कि युधिष्ठिर की दृष्टि में प्रकृति का अखिल साम्राज्य विश्व सरणियों द्वारा संचालित है, मानव अपने कर्म व पुरुषार्थ के

अनुसार सुख दुःख, उत्थान पतन, ऐश्वर्य दारिद्र्य भोगता है, क्रोध ही जीवन में निराशा लाने वाला मूल कारण है, काम वासना ही दुःख और व्यथा की योनि है—इनके (काम और क्रोध के) समर्पण से ही मनुष्य शान्ति के परम धन से समृद्ध होता है, और शान्ति ही आत्म सन्तोष और करुणा कौशल की पथ प्रशस्तिका है, इसी तोष और करुणा की भाव भूमि में सर्वभूतहित की निर्मल कामना का अभ्युदय होता है जो मानव जीवन का सर्वोच्च ध्येय और उत्तम मूल्य है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि यद्यपि बौद्धिक चेतना के धरातल पर युधिष्ठिर के विचार और विश्वास सर्वथा सत्य और धर्म के अनुकूल है, तथापि उनके जीवन में यह सब कुछ घटित होते हुए नहीं दिखता। उनकी करनी उनकी कथनी से सर्वदा मेल नहीं खाती। यही कारण है कि युद्ध में विजय प्राप्त करने वाले युधिष्ठिर स्वयं अपने हृदय दौर्बल्य पर पूर्ण विजय की पताका नहीं फहरा सके हैं। इसी के फलस्वरूप अपने विरोधी दुर्योधन आदि दुश्मनों के भीषण संहार और विध्वंस के कारण अत्यन्त दुःखी और विह्वल हो जाते हैं, और जब वह हस्तिनापुर के राज्य सिंहासन पर आरूढ़ होने के लिए अनुरोध करते हैं, तो वे भारी मन और तीव्र अनिच्छा से ही वैसा कर पाते हैं। वे भली भाँति जानते हैं कि युद्ध की दुःखान्त स्थिति मृत रिपुजनों के लिए नहीं अपितु युद्धोपरान्त जीवित नैतिक चेतना से अभिभूत व्यक्तियों के लिए है, जिनके हृदय समर ध्वंसावशिष्टानल में अभी भी जल भुन रहे हैं, जिनके नेत्र चिताग्नि में बुझती हुई लाशों में से उठते हुए धुएँ से अभी तक रुग्ण, रक्तिम और अश्रुपूरित हैं। दुर्योधन की अद्ध ऊर्ध्वारोही चिताल, पर क्षत विक्षत देह के समक्ष खड़े युधिष्ठिर उसे कहते हैं— दुःखान्त तुम्हारा नहीं है, बल्कि हमारा है यह हमारा दुर्भाग्य है कि हमें लाखों विधवाओं के अभिशप्त जीवन को देखने के लिए जीना पड़ रहा है—'

वयमेवाधुना शोच्या सर्वावस्थासु कौरव।
भ्रातृणां चैव पुत्राणां तथा वै शोकविह्वला।
कथ द्रक्ष्यामि विधवा वधू शोकपरिप्लुता॥
शल्यपर्वणिगदापर्व 5 8 27 29[1]

अतः युधिष्ठिर पूर्ण रूप से आश्वस्त हैं कि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मूलभूत मानव जीवन का नैतिक मूल्य मानवता को युद्ध और विनाश से बचाना ही है—मृत्यु और महाविनाश से महामानवता की रक्षा से अधिक पावन कोई धर्म नहीं, इससे अधिक पवित्र और मूल्यवान कोई नीति नहीं, इससे अधिक मानव हितकारी और मानवस स्वातन्त्र्य का पोषक प्रतिपादक कोई दर्शन नहीं। परन्तु युद्ध जब अटल और अवश्यम्भावी हो जाय, बिना युद्ध किये मानवीय मूल्यों की

रक्षा करना अशक्य हो जाय, और ऐसी विषमावस्था में युद्ध न करना धर्म-भीरुता व पलायनवाद बन जाय, तो न्यायोचित युद्ध करने का दु खान्त निर्णय वस्तुत उत्तम जीवन व व्यापक धर्म की निकष पर अत्यन्त खरा और मानवीय निर्णय ही मान्य होता है। नरोत्तमता के पथ का यह नितान्त अनिवार्य सोपान बन कर मनुष्य की श्रेष्ठतरता का पोषण करता है।

यक्ष युधिष्ठिर सम्वाद का पुन स्मरण युधिष्ठिर के इसी आनृशस भाव की अभिव्यक्ति हेतु श्रेयस्कर एव उपयोगी है। युधिष्ठिर के द्वारा दिये गये उत्तरो से जब यक्ष पूर्णतया सन्तुष्ट हो जाता है तो वह युधिष्ठिर को वरप्रदा वाणी में कहता है कि वह अपने मृत चारो भाइयो मे से किसी एक भाई के पुन जीवित हो उठने का वर माँग ले— 'तस्मात् त्वमेव भ्रातृणा यमिच्छसि स जीवतु' (वनपर्व 313,122)। युधिष्ठिर के इस निवेदन पर कि 'हे यक्ष! नकुल जीवित हो जाय'— नकुलो यक्ष जीवतु (व प 313 123)— यक्ष आश्चर्यान्वित मुद्रा से प्रश्न पूछता है 'हे युधिष्ठिर! तुमने सहस्र हाथियो वाले बलशाली और महापराक्रमी भीम का जीवन दान क्यो नही मागा, वह वनवास की दुर्गम यात्रा मे कितना सहयोगी सिद्ध होता? न तुमने अति पराक्रमी धनुर्धर वीर अर्जुन को पुनर्जीवित करने की बात कही, वह हर सकट के समय एक महान कवच और रक्षक के रूप में तुम्हारी आज्ञा मे निरत रहता। तुमने केवल नकुल के पुनर्जीवन की ही माग क्यो की?' यक्ष के इस प्रश्न के उत्तर मे युधिष्ठिर ने जो सहज भाव प्रस्तुत किया उससे जीवन मूल्यो की उस परम चेतना का दर्शन होता है जिसमे युधिष्ठिर की अस्तित्व और अस्मिता प्रधान जीवन मूल्यो की सीमा से बहुत परे, आनृशस भाव की नैसर्गिक और प्रेममय अभिव्यक्ति होती है। वह कहता है कि 'हे यक्ष! मेरे पिता की दो पत्नियाँ म से एक के हम तीन कौन्तेय है और दूसरी माद्री माँ के ये दो नकुल और सहदेव हैं। हम पाँचो पाण्डुपुत्र हैं। नकुल के पुनर्जीवन म दिवगत माद्री माँ की स्मृति-अन्तर तम के सुखानुभव से अधिक पावन और मेरे मन को सन्तोष दे सकने वाली और कोई बात नही हो सकती क्योकि 'मेरी दृष्टि म आनृशस (स्नेह मिश्रित समता और निष्ठायुक्त प्रेम व दया) ही परम धर्म है, जीवन का सच्चा परमार्थ है, और इसी आनृशस भाव के सहजोद्रेक से मैं नकुल को जीवित करना चाहता हूँ—'

> आनृशस्य परो धर्म परमार्थाच्च मे मतम्।
> आनृशस्य चिकीर्षामि, नकुलो यक्ष जीवतु॥
>
> वनपर्व 313 129

अत मेरा आपसे सानुनय निवेदन है कि मेरी दोनो माताएँ पुत्रवती रहें—'उभे

सपुत्रे स्याताम्'—क्योंकि मेरे अन्त करण म दोनो माताओ के
निष्ठा और आदर भाव है।

युधिष्ठिर के इस उत्तर से यक्ष अत्यन्त प्रसन्न हो उठे अं
उसके सभी मृत भ्राताओ के पुनर्जीवित हो उठने का शीघ्र वर

युक्ति की जिस प्रासंगिकता के अवलम्बन से यक्ष युधिष्ठि
दत हैं उसमे मानव जीवन की दो दृष्टियो एव तज्जन्य दो प्र
मूल्यों की गहरी पारस्परिक भिन्नता के साथ साथ एक की हीन
की श्रेष्ठता का स्पष्ट द्योतन होता है। एक जीवन-दृष्टि केवल ः
अर्थात् पुरुषार्थद्वय को लेकर है और दूसरी धर्म, अर्थ, काम अं
पुरुषार्थ चतुष्टय के आधार पर निर्मित है। प्रथम दृष्टि 'इदमित्थम
जीवन की नितान्त भौतिकवादी प्रथम दृष्टि है और दूसरी ब्रह्म
और इदम् की समन्वित पूर्णताजन्य आध्यात्मिक जीवन की मान
दृष्टि है जिसकी प्रेरणात्मक अभिव्यञ्जना आनृशंसत्व को लेकर
कहते हैं—हे भरत श्रेष्ठ ! तुमने अर्थ और काम से भी श्रेष्ठ मान
दया, समता और आत्मनिष्ठा के तन्तुओ से सृष्ट और इनके स्रोत
अपने जीवन मे आदर किया है, अत तेरे सब भाई पुन जीवित

तस्य तेऽर्थाच्च कामाच्च आनृशंस्य परमतम् ।
तस्मात्ते भ्रातरः सर्वे जीवन्तु भरतर्षभ ॥
वनपर्व 313 132

इन वरद शब्दो के उच्चारण के साथ ही युधिष्ठिर के चारो
हो उठते हैं। स्वय यक्ष भी अपने असली रूप मे प्रकट हो कर कह
युधिष्ठिर ! मै तुम्हारा जनक धर्मराज हूँ—अहं ते जनकस्तात धर्म
क्रम — और तुम्हे देखने के लिए और तुम्हारी परीक्षा करने हेतु
आया था। तुम्हारे इस आनृशंस भाव मे ही धर्म का प्रवेश द्वार है।
की युधिष्ठिर की धर्मपरायणता से अत्यन्त प्रसन्न होकर धर्मरा
वरदान दिये— प्रथम कि हरिण जिस ब्राह्मण की अरणी को लेकर
अरण्य म लुप्त हो गया था और जिस हरिण का पीछा करते हुए
पाण्डव आये थे, वह मैं ही हूँ। उस ब्राह्मण को यह अरणी लौटा दो ता
अग्निहोत्र निर्बाध चलता रहे। दूसरा यह कि तुम्हारे बारह वर्ष के
पश्चात् अज्ञातवास का तेरहवाँ वर्ष है, उस अवधिकाल म तुम्हे कर इ
के फलस्वरूप कोई भी पहिचान नही सकेगा— 'नाभिजानीयु'।
अपनी इच्छानुकूल एक और वरदान मागना चाहते हो तो माग
युधिष्ठिर ने एक अनोखे मनुष्यत्व और नरोत्तम भाव को जगाने और

वाना वर मागा—

जयेय लोभ मोहौ च क्रोध चाह सदा विभो ।
दाने तपसि सत्ये च मनो मे सतत भवेत् ॥

अर्थात्, हे विभो ! मैं चाहता हूँ कि लोभ, मोह और क्रोध पर मैं सदा विजयी रहू और मेरा मन निरन्तर सत्य, तप और दान मे नित्य रमणशील रहे ।'

मनस्थली की सत्यमयी अक्रोधावस्था का सवजयी साम्राज्य युधिष्ठिर ने मागा और पा लिया । जिसका मन अपने वश मे होता है सारा ससार उसके स्वामित्व म रहता है क्योकि स्व विजय ही विश्व विजय का राजमार्ग है, जिसका मन सत्य मे तपोपूत और रमणशील होता है वह सवत्र सवकाल सत्य मय जीवन यापन द्वारा विश्वप्रेम, अखण्ड अहिंसा और परम चेतना की नारायणी अवस्था म नित्य प्रतिष्ठित होने की सामर्थ्य का धनी हो जाता है। जो सत्य का है और सत्यशील है, वह सब का है सब के लिए है क्योकि सत्य स्वय सब का है। सत्य ही जीवन है, जीवन का अधिष्ठान है, जीवन का वास्तविक रस है, अमृत है। इसी से और इसी मे प्रेम, अहिंसा और करुणा की प्राण प्रतिष्ठा है। क्या यह युधिष्ठिर का निजी अनोखापन नही है कि वह इस अमृतरूप सनातन सत्य की अपने जीवन मे—विचार और व्यवहार की समरसता में—नित्य अभिव्यक्ति के आतुर उदाहरण हैं ? महाभारतकार वस्तुत इसी आनृशस्य भाव की प्रतिष्ठा मानव मात्र के जीवन मे देखना चाहते हैं। इसीलिए वे अर्जुन, भीष्म व भीम आदि को नही परन्तु केवल युधिष्ठिर को महाभारत का नायक बनाते हैं, मानवीयता के धवल और शुद्ध दुग्ध से पोषित उनकी करुणा मयी सहिष्णुता, आत्मा की परम चेतना के स्तर से, सत्याथ और धर्माथ सब कुछ सहन कर लेती है। युधिष्ठिर का निश्छल और सुसस्कृत जीवन सनातन सत्य का अपूर्व यार अनिश अनुष्ठान प्रतीत होता है, और इस अनुष्ठान मे एकमात्र अपराध व दोष यदि है तो वह 'नरो वा कुजरो' का असत् उद्घोष है जो वस्तुत सत्यार्थी पाण्डवो के सवविनाश की द्रोणजन्य विवशता से उद्भूत होने के कारण केवल क्षम्य ही नही है, वरन् युधिष्ठिर की सत्यपरक, धममयी मानवीय धवल कीर्ति को और अधिक उजागर करने वाला आनृशस्य का ही अभिनव रूप है। एतद्दृष्टया, 'अश्वत्थामा हतो नरोवा कुजरो वा' जीवन मूल्यो मे सघष का चरम दृष्टान्त लगता है।

साराश, महाभारत में मानव जीवन मूल्यो का सघष मूलत पुरुषाथ-द्वय और पुरुषाथ चतुष्टय की भौतिकवादी और अध्यात्मवादी दृष्टियो के बीच जिनके प्रतीक क्रमश कौरव और पाण्डव हैं—सतत प्रवहमान सघष है जो अस्तित्व, अस्मिता और आनृशस्य की कसौटिया पर प्रधानतया तीन चरणो

मे से क्रमश गुरुतर और व्यापक होता हुआ विप्लवी निष्कर्ष की धार बढ़ना
जय अन्तर्द्वन्द्वाग्नि एव महायुद्धाग्नि मे से अपना विजय-पथ प्रशस्त करता है।

तृतीय प्रकरण

'यतो धर्मस्ततो जय'

मानव की जय यात्रा

विजय युद्ध-भागिनी है। जीवन में विजय का आलोक प्राप्त करने के लिए युद्ध का द्वार खोलना पड़ता है क्योंकि युद्ध ही विजय का द्वार है। यह द्वार दो तरफ खुलता है भीतर की तरफ और बाहिर की तरफ। भीतरी द्वार को अन्तर्द्वन्द्व कहते हैं और बाह्य द्वार को युद्ध। अन्तर्द्वन्द्व मानव की हृदय स्थली में वैयक्तिक स्तर पर ही होता है, परन्तु बाह्य जगत् की अनुकूल और प्रतिकूल विषमताओं एवं परिस्थितिजन्य घटनाओं को ज्यों ज्यों वह आत्मसात् करके पचाता चलता है, वह स्वकीय संकीर्णताओं और कट्टर भावों व विचारों की सीमाओं को उत्तरोत्तर लांघता हुआ तज्जन्य अहंता को महामानवता के अगाध और अछोर सागरीय अनन्तता में लय कर देने की पूर्ण तैयारी में आ जाता है। परिणामतः इस प्रक्रिया में विवेक प्रदीप्त हो उठता है और उसके आलोक में मानवीय बुद्धि और मानुषीय भाव को जो बल मिलता है उसमें आनुशासत्व का, जीवन में, पोषण होता है तथा हर समागत और सम्भावित समस्या के हल व समाधान हेतु मानव मन में नूतन-नूतन मार्ग उन्मुक्त होते चले जाते हैं। (हला-भाव में मनुष्य का मन टूटता नहीं, समाहित रहता है, निराशा के श्यामल मेघ आते हैं, परन्तु विवेक की ज्योति में उनकी निशीथमयता का अन्त हो जाता है। स्व अस्तित्व और अस्मिता की क्षुद्र सीमाओं से उज्जनित कूप मण्डूकता रूपी अन्धकार से बाहिर निकल कर वह आनन्दालोक से आप्लावित होता हुआ मानव जीवन की सर्वहितैषिणी परिपूर्णता के महासदन में प्रवेश की सामर्थ्य अर्जित कर लेता है। आनन्दसत्ता ही नर में नरोत्तमता के अजस्र स्रोत का प्रवाह उन्मुक्त करके उसे नारायण का साक्षात्कार करा देती है। इस प्रवाह में, नारायण में, पूर्ण विलय की समग्रता ही नर की नश्वरता पर विजय है, मानव धर्म का अधर्म पर और मानवीय न्याय का अन्याय पर ध्वजारोहण है। इस विजय में मनुष्य को अपने ही दौर्बल्य पर, अपने भीतर के शत्रुओं—काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ, मत्सर आदि—पर जीत का अनवरत घंटनाद करना पड़ता है।

अपने अहं के मर्दन में ही स्वातंत्र्य नारायण के दर्शन का प्रमुख द्वार है। नर से नारायण तक की आत्म मुखी यात्रा में उत्कट अंतर्द्वन्द्व के इस अत्यंत झीने और सूक्ष्म द्वार में से गुजर कर आगे बढ़ना होता है। इस अंतर्द्वन्द्वाग्नि के द्वार में प्रवेश करने से मनुष्य का वासना रूपी मल और अज्ञानरूपी अंधकार का ईंधन जल कर भस्मीभूत हो जाता है।) परिणामतः अंतःकरण अत्यन्त निर्मल हो उठता है— अग्नि में तप्त हुए शुद्ध स्वर्ण की तरह—और अज्ञान जन्य भय और क्षुद्रता भी तिरोहित हो जाते हैं। अन्तःकरण की निर्मलता से मानवमात्र के प्रति ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण चिज्जड़मय सृष्टि के प्रति प्रेम, उदारता और तादात्म्य का भाव उमड़ पड़ता है। इसी भाव को महर्षि व्यास ने आनृशंस्य की संज्ञा से अभिहित कर उसे समस्त ब्रह्माण्ड को संचालित करने वाले 'धर्म का द्वार' कहा है। इस भाव के अभ्युदय में नर नरोत्तम में विकसित हो उठता है और नारायण की पूर्णता में उसके प्रतिष्ठित होने का मार्ग आगे उन्मुक्त हो जाता है। अंतर्द्वन्द्व इस प्रकार मनुष्य को आत्मजयी बनाकर मानवता का प्रबुद्ध पोषक और सर्वात्मभाव का प्रेरक पुंज व प्रकाशक प्रतिनिधि बना देता है। यह है जीवन में विजय का आलोक प्राप्त करने के लिए युद्ध का भीतरी द्वार।

जिस प्रकार अंतर्द्वन्द्व के दावानल में मनुष्य के भीतरी शत्रुओं, संघातों और भयावह दुर्बलताओं का घोर विध्वंस, मनुष्य की नर से नारायण की दुर्गम यात्रा को सफल बनाने में सहायक होता है उसी प्रकार लक्ष लक्ष नरवीरों का संहारक बाह्य रणक्षेत्र में दो विपक्षी सेना गुटों व राज्यों में घटित महायुद्ध की भीषण अग्नि में सत्य, न्याय और मानवता के शत्रुओं का विध्वंस समाज व राष्ट्र के जीवन में सत्यपरायणता, न्यायशीलता और धर्मप्रिय मानवीय करुणा को प्रोत्साहित करने वाला सिद्ध होता है। युद्ध मृत्यु का ही विकराल रूप है जिसके सम्यक् बोध हो जाने पर मनुष्य मृत्यु के भय से मुक्त होकर मानवता के पोषक तत्वों का प्रवाहक केन्द्र बन जाता है। उसकी मानवीय संवेदना शनैः शनैः सारे समाज को आप्लावित कर देती है। महाभारत में विशेषतया तीन पात्रों को मृत्यु का दर्शन होता है—अर्जुन, धृतराष्ट्र और युधिष्ठिर को। अर्जुन को युद्ध से पूर्व और शेष दोनों को युद्ध के पश्चात्। अर्जुन को मृत्यु का भयावह रूप दिखता है, धृतराष्ट्र को मृत्यु के निर्मम रूप का दर्शन विदुर द्वारा कराया जाता है, युधिष्ठिर मृत्यु की करुणरूपता का दर्शन करता है। किञ्चित् गहराई में महाभारत की मार्मिक महत्ता का अन्वेषण करने से लगता है कि यह समूचा महाकाव्य एक ओर युद्ध को एक ही राजकुल की दो धाराओं के कथानक के माध्यम से एक व्यापक और विश्वजनीन धार्मिक, सामाजिक, नैतिक और

आध्यात्मिक सत्य की प्रतिष्ठा का निकष बनाता है और, दूसरी ओर, वही युद्ध 'मृत्यु के भय, मृत्यु की निममता और मृत्यु की करुणरूपता की तीन धाराओं मे प्रवाहमान होकर अत मे मानवीय सम्वेदना की एक चरम निश्चल शान्ति म मिल जाता है। मृत्यु के इन तीनो रूपो की पहचान कितनी विश्व-व्यापक और कितनी सनातन है, और इस मृत्यु के द्वारा जीवन में किस प्रकार मानवीय सपृक्तता लाई जा सकती है, यही महाभारत का मूल मम है।' (परम्परा बन्धन नहीं, पृष्ठ 21, श्रीविद्यानिवास मिश्र)।

इस मम के रहस्योद्घाटन मे मानव की विजय यात्रा का स्वरूप गुम्फित है। अत मृत्यु के रूपत्रय के दशन का सम्यक् विश्लेपण विवेचन अपेक्षित है।

मृत्यु के तीन रूप—विजय के भीतरी द्वार

1 अर्जुन द्वारा युद्ध पूव मृत्यु का दशन भयावह रूप

कौरव पाण्डवो के युद्ध के आरम्भ होने के पहले दोनो ओर युद्धाथ सैन्य सगठन की तैयारियाँ होने लगती हैं। श्रीकृष्ण को रण निमन्त्रण देन के लिए दुर्योधन द्वारका पहुँचते हैं, उसी दिन अर्जुन भी वहाँ पहुँच जाते ह। कथा प्रसिद्ध है, दुर्योधन को तो कृष्ण की अनन्त बल शालिनी नारायणी सेना चाहिए थी अत कृष्ण दुर्योधन को मागपूर्ति सेना देकर करते हैं, परन्तु अर्जुन ने स्वय कृष्ण को मागा और कृष्ण उसकी सहायताथ तत्पर हो जात हैं।

तदनन्तर कृष्ण अर्जुन से पूछते ह—अर्जुन! जब मैंने युद्ध स्थल पर निरस्त्र रह कर युद्ध न करने की प्रतिज्ञा की है तब तुमने क्या समझ कर नारायणी सेना को छोड दिया और मुझको ही अपनी सहायताथ चुना? 'अयुध्यमान सग्रामे, न्यस्तशस्त्रोऽहमेकत' (उद्योगपव, 7 19)। तब अर्जुन कहते हैं—हे, पुरुपोत्तम! आप अकेले ही उन सबको विनष्ट करने मे समर्थ हैं, इसमें तनिक भी सशय नहीं है। मैं भी अकेला ही (आपकी कृपा से) उन सब शत्रुओ का सहार करने मे समथ हूँ। पर मेरे मन मे बहुत दिनो से यह अभिलाषा थी कि आप मेरे सारथी बनें—

भवान् समथस्तान् सर्वान् निहन्तु नात्र सशय ।
निहन्तुमहमप्येक समथ पुरुपषभ ॥
सारथ्य तु त्वया कार्यं इति मे मानस सदा ।
उ प 7 35-37

इस प्रकार, कृष्ण अर्जुन के सारथी बन जात हैं। सारत अर्जुन की यह मान्यता ह कि श्रीकृष्ण ही धर्मपुरुष, और धम ही विजय रूप मे व्यक्त होने वाला तत्त्व है। अत अर्जुन अपनी विजय हेतु इसीलिए आश्वस्त है कि वह धमपक्ष धनुधर ह और स्वय धर्मविग्रह भगवान कृष्ण उसके सारथी ह।

अभी तक दुर्योधन की भाँति अर्जुन भी विजय प्राप्त्यर्थ आश्वस्त है। दोनों भावी विजय के दर्शन करते हैं। दुर्योधन जानता है कि उसके पास ग्यारह अक्षौहिणी सेना है, 'वह मेरे लिए मरने को इकट्ठी हुई है'— मदर्थ त्यक्त जीविता — अतः उसकी जीत सुनिश्चित है, इसे कोई नहीं टाल सकता। विजयाकांक्षी अर्जुन भी दुर्गादेवी को, कृष्ण के उपदेशानुसार, अपनी विमलमति से प्रार्थना द्वारा प्रसन्न कर चुका है, उससे वर भी प्राप्त कर चुका है कि स्वल्प काल में ही युद्ध में वह 'शत्रुओं पर विजय' प्राप्त करेगा—'स्वल्पेनैव तु कालेन शत्रूञ्जेष्यसि पाण्डव' (भीष्म पर्व 23 18)। अतः अर्जुन भी अपनी विजय को अटल और निश्चित मानता है। और फिर श्री कृष्ण के सारथित्व को पाकर तो उसका उत्साह गगनचुंबी है। संजय की वाणी भी उसके चिद्गगन में गुंजायमान है— 'यतो धर्मस्ततः कृष्णो, यतःकृष्णस्ततो जयः' (भीष्मपर्व, 23 28)। अतः अर्जुन और दुर्योधन दोनों विजय हेतु कटिबद्ध हैं, उद्यमशील हैं और आश्वस्त हैं।

कुरुक्षेत्र के मैदान में कौरवों और पाण्डवों की सेनाएँ युद्ध करने के लिए मोर्चा लेकर आमने सामने खड़ी हैं। (भीष्म पितामह कौरवों के प्रधान सेनापति हैं और पाण्डवों के धनञ्जय। पाण्डव सेना के अग्रभाग में नन्दिघोष रथ पर बैठे महापराक्रमी धनुर्धर अर्जुन देख रहे हैं कि कौरव वाहिनी के सेना नायक महारथी भीष्म सबसे आगे हैं। दुर्योधन भी अपनी रण व्यूह रचना का निरीक्षण करते हुए अग्रिम दृष्टि करते हैं तो देखते हैं कि स्वयं कृष्ण अर्जुन के नन्दिघोष रथ का संचालन करने सारथि के रूप में रणोद्यत हैं। दुर्योधन और कौरव सैनिकों के हृदय में हर्षोल्लास का वर्द्धन करने हेतु भीष्म पितामह उच्च स्वरीय सिंहगर्जन करते हुए शंखनाद करते हैं, यह युद्धारम्भ की सूचना है। इसके प्रत्युत्तर में श्रीकृष्ण पाञ्चजन्य नामक शंख, अर्जुन देवदत्त नामक और भयानक दहाड़ करने वाले भीम पौण्ड्रनामक महाशंख बजाते हैं। चारों दिशाओं में शीघ्र ही रणभेरियों आदि का तुमुल नाद होने लगता है, रथों पर ध्वजाएँ फहरा जाती हैं। सर्वत्र एक अद्भुत रोमाञ्चकारी दृश्य उपस्थित हो रहा है।)

सहसा एक घटना घटित होती है। अर्जुन अपने सारथि कृष्ण को कहते हैं कि 'मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में ले जाकर खड़ा करो'—सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ताकि कि मैं निरीक्षण कर सकूँ कि कौन कौन मेरे साथ युद्ध करने आये हुए हैं'—यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्। वहाँ अर्जुन देखता है कि उसके ठीक सामने भीष्म पितामह हैं, द्रोणाचार्य हैं, सगे हैं, सम्बन्धी हैं, साले हैं, श्वसुर हैं, द्रोणपुत्र अश्वत्थामा है भाई दुर्योधन आदि अपने स्वजन हैं। उन उपस्थित सम्पूर्ण बन्धुओं एवं गुरुजनों को देखकर

अर्जुन का मन विषाद और करुणा से भर जाता है—'तान्समीक्ष्य स कौन्तेय सर्वान्बन्धूनवस्थितान् । कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्'— और वह युद्ध न करने की ठान लेता है। वह कृष्ण से तुरन्त कह उठता है हे कृष्ण! युद्ध क्षेत्र में डटे हुए युद्धाभिलाषी इस स्वजन समुदाय को देख कर मेरे अङ्ग शिथिल हुए जा रहे हैं और मेरा मुख सूखा जा रहा है तथा मेरे शरीर में कम्प एवं रोमाञ्च हो रहा है, हाथ से गाण्डीव धनुष गिर रहा है और त्वचा भी ज्वलनशील हो रही है तथा मेरा मन भ्रमित-सा हो रहा है। अत मैं खड़ा रहने भी असमर्थ हूँ। हे केशव! युद्ध में स्वजनों को मार कर मैं कल्याण नहीं देखता।' युद्ध के भयंकर परिणामों और असंख्य नर वीरों और स्वजनों की मृत्यु का अर्जुन मन ही मन साक्षात्कार करता है और इस मृत्यु की रोमाञ्चक विकरालता को देख कर वह युद्ध न करने का निश्चय कर लेता है।

अर्जुन इस भावी मृत्यु का दर्शन कृष्ण को भी कराना चाहता है। वह कह उठता है हे कृष्ण! मैं न तो विजय चाहता हूँ—'न काङ्क्षे विजयं कृष्ण' और न राज्य सुख की मुझे अभिलाषा है। ऐसी विजय से क्या प्रयोजन जिसमें स्वजनों और गुरुजनों की निर्मम हत्या होती हो, जिसमें कुलक्षय होता हो तथा जिसके परिणाम स्वरूप राज्य की स्त्रियों को पुत्रविहीन और विधवाएं बनना पड़े? हे वार्ष्णेय! वैधव्य समाज में वर्णसङ्करता उत्पन्न करने वाला होता है, और उससे सनातन जाति धर्म और कुल धर्म ही नष्ट हो जाता है। यह तो घोर पाप है, अधम है। मैं जानता हूँ कि दुर्योधन आदि धृतराष्ट्र के पुत्रों का चित्त लोभाक्रान्त है—'लोभोपहत चेतस'— और वे अधर्म और अन्याय कर रहे हैं तथा विचारहीन हैं, पर तु हम तो दुर्धर्ष युद्ध के दुष्परिणामों पर विचार कर सकते हैं।' ऐसा कहते हुए बाण सहित धनुष को त्याग कर शोकसंविग्न मन से अर्जुन रथ के पृष्ठ भाग में बैठ जाता है।

शोकाकुल और करुणाक्रान्त अर्जुन के इस रण पराङमुख रूप को देखते ही सारथि कृष्ण समझ जाते हैं कि उनका महारथी मोह रोग से ग्रसित हो रहा है। वस्तु स्थिति के असत्य मूल्याङ्कन के कारण अर्जुन के तीनों शरीर—स्थूल, सूक्ष्म और कारण—मोह रूपी बीमारी से जलने लगते हैं। एक अच्छे महावैद्य की तरह कृष्ण मोह उपचारार्थ चिकित्सा करने लगते हैं, वे कहते हैं 'अर्जुन! तुम हमेशा निर्मल और तेजस्वी थे, कायरता की विषाद भरी छाया से अब क्या घिर गये हो? तुम्हारे जैसे शूरवीर को यह शोभा नहीं देता। सत्य पथ से इस प्रकार विचलित हो जाना अकीर्तिकर पलायन है। यह तो नपुंसकपना है अर्जुन इसे छोड़। यह विचित्र मोहजन्य करुणा, और वह भी इस युद्धारम्भ की विषमावस्था में! सर्वथा अनुचित है। अर्जुन! तू तो परंतप है,

दुश्मनों को पल भर में तपाने, हराने और मारने वाला! अतः शीघ्र अपने हृदय की दुर्बलता को छोड़ कर युद्ध करने के लिए उठ खड़ा हो— 'क्षुद्र हृदय दौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप'।

कृष्ण की यह प्रताड़ना अर्जुन के लिए 'शाक थेरेपी' का काम करती है। क्षत्रिय वीर अर्जुन के ठंडे पड़ते हुए खून को गरम करने वाली इस 'थेरेपी' के प्रेरणाप्रद प्रभाव को कृष्ण देख रहे हैं। अर्जुन प्रत्युत्तर में अपने परिवर्तित एवं युद्ध न करने वाले निर्णय हेतु तर्क प्रस्तुत करते हुए प्रणिपात-परायण हो जाता है। वह कहता है 'कार्पण्यदोष से मेरा स्वभाव अपहृत हो गया है, अतः मैं धर्म मूढ़ चित्त वाला तुम्हें पूछता हूँ कि इस स्थिति में मेरे लिए क्या करना श्रेयस्कर है? मैं आपका शिष्य हूँ, आप मुझे उद्‌बोधित करें, मैं प्रपन्न हूँ, शरणागत हूं, आप उपदेश दें, आदेश करें—

कार्पण्यदोषोपहत स्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्म सम्मूढ चेताः।
यत् श्रेयः स्यात् निश्चितं ब्रूहि तन्मे,
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥
भ गी 2 7

ज्योंही अर्जुन का शिष्यत्व प्रकट होता है, त्योंही कृष्ण में गुरुत्व का अभ्युदय होता है और उसी प्रबल स्फुरण से मोहनाशी गीता ज्ञान का निर्झर फूट पड़ता है योगेश्वर गुरु के ज्ञानगिरितुंग से!

कितना विचित्र प्रसंग है गीता के इस सहज प्रसवन का! ऋषिमुनि और गुरुजन आश्रमों एवं अरण्यों में ही ब्रह्मोपदेश करने की परम्परा का पालन करते आये हैं, परन्तु क्रान्त द्रष्टा एवं युग संचालक कृष्ण अब रणभूमि को भी ब्रह्मज्ञान के उपदेश की पुण्यस्थली बना देते हैं। नारायण जो वह ठहरे, वह नर के सुहृद हैं! इन्द्रपुत्र के प्रति कृष्ण सदय मात्र इसलिए नहीं कि 'इन्द्र नरत्व, पौरुष या पराक्रम के देवता हैं या अंतरिक्ष के देवता हैं, भीतरी उथल पुथल के देवता हैं' परन्तु इसलिए कि नर नारायण के प्रति उस उथल पुथल के कारण नत मस्तक है, प्रपन्न है, शरणागत है। अतः नारायण के मुख से नर के प्रति श्रीमद्‌भगवद्‌गीता का जो मोहक्षयी उपदेश प्रवाहमान होता है वह वस्तुतः युद्ध की विभीषिका में प्रवर्तित होने के कारण विजय का सामगान कहा जा सकता है। इसे युद्धोपनिषद् कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी क्योंकि नारायण स्वयं युद्ध में जय रूप से अभिव्यक्त होते हैं— 'जयोऽस्मि'— कृष्ण कहते हैं कि 'जय मैं स्वयं हूँ', जय मेरी विभूति है। (उपनिषद् का मूल अर्थ भी यही है कि गुरु शिष्य को अपने समीप बिठा कर ब्रह्मात्मैक्य के उपदेश द्वारा

उसके अहंकार एव अज्ञानज य मोहकलिल को हटा कर उसके जीवन म 'तत्वमसि' के सम्यक् ज्ञान की पूर्ण प्रतिष्ठा कराये। अत अर्जुन के, युद्ध की भीषण विषमावस्था म मृत्यु के नाश रूप दर्शन से उत्पन्न, मोह और भ्रम को दूर करने के लिए श्रीकृष्ण सारत ज्ञान भक्ति युक्त कर्मयोग का त्रिकाल अबाधित उपदेश देत ह। सवप्रथम, आत्मा की अमरता और दह की नश्वरता के मानवानुभवी उपदेश द्वारा कृष्ण अर्जुन के देहबुद्धिजन्य मोह का निवारण करते हैं। इसी मोह निवारण चिकित्सा के प्रवाह मे कर्मयोग की लोकप्रसिद्ध चतु सूत्री प्रतिपादित करते हुए कहते हैं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफल हेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ।।
2 47

'कम करन म तरा अधिकार है,' यह प्रथम सूत्र ह। कम वही है जिससे मानव मात्र के जीवन मे स्वतन्त्रता, मानवीय श्रेष्ठता और धम की सही प्रतिष्ठा होती है। अत क्षत्रियोचित धम और कम यही है कि वह सत्य और मानवता की विरोधी शक्तियो द्वारा थोप हुए युद्ध का पूर्ण मनोबल से सामना करे। इसलिए कृष्ण बलपूवक कहते हैं— 'युध्यस्व विगत ज्वर '— मोह रूपी रोग को छोड कर युद्ध कर। कर्मयोग का दूसरा सूत्र है 'फल प्राप्त करने मे तेरा अधिकार नही है' अर्थात् स्वतन्त्र नही ह। कम करना मनुष्य के वश म हैं, कमफल मनुष्य के हाथ मे नही है। इसलिए युद्ध मे तुम्हे सिद्धि रूपी जय मिले या नही इसकी चि ता छोडकर आरोपित और समागत युद्ध से पराङमुख मत हो, युद्ध कर। यह मानवोचित क्षत्रिय धर्म है, वीरोचित कम है। तीसरे सूत्र म कृष्ण कहते है 'काम के फल की वासना वाला न बन'। फलाकाक्षा ही कर्मसिद्धि मे सबसे बडी बाधा है। आकांक्षा राग द्वेष की जननी है। इसलिए राग द्वेष से अपने मोहित मन को 'फल हतु' भाव से मुक्त करके— 'सङ्ग त्यक्त्वा'— युद्ध कम की सिद्धि मे कौन मरेंगे और कौन जीयेंग की भावना को समत्व म स्थापित करत हुए— सिद्ध्यसिद्ध्यो समो भूत्वा कम कुरु— युद्ध कर। कर्मयोग का चौथा सूत्र है कम न करने म आसक्ति न रख— 'मा ते सङ्ग तु अकर्मणि'। अर्थात्, युद्ध तुम नही करना चाहते फिर भी कौरवाधिप दुर्योधन ने तुम पर युद्ध थोप दिया है, अब युद्ध न करने म आसक्ति करना कायरता है कर्तव्य से पलायन है। इस प्रकार स्वजनो के प्रति मोह के कारण तुम्ह धमयुद्ध से विमुख नही होना चाहिए। धम पालन के लिए युद्ध करना ही तुम्हारे लिए श्रेयस्कर है।

अर्जुन के प्रश्न के उत्तर मे कृष्ण का ज्ञानयुक्त कमयोग प्रधान उद्बोधन श्रेयस्कर की प्रतिष्ठा द्वारा मोहभदन का प्रथम चरण पूरा करता है। वेदव्यास

कहते हैं कि जीवन में मृत्यु के स्मरण से दोनों से उत्पन्न भय को आदर स्थान देना चाहिए पर जब मृत्यु जीवन का अपहरण करने उद्यत हो पर आ जाय तो उसका यथोचित स्वागत करना चाहिए। उससे डरने से कुछ नहीं बनता। अभय ही भय से मुक्ति का द्वार है। अतः निर्भीकता से उपस्थित भय के मोह का नाश करना ही मनुष्यत्व है।

तावद् भयस्य भेतव्यं यावद् भयम् अनागतम्।
आगतं तु भयं दृष्ट्वा प्रहर्तव्यम् अभीनवत्॥
शान्ति पर्व 140/33

जीवन की इस सही पहिचान से अर्जुन के मोहज्वर का ताप कम होने लगता है। विषाद का दीप मन्द है, पर बत्ती जल गई है। भ्रष्ट बुद्धि की शृंखलाएँ शिथिल होकर टूटने लगी हैं। कृष्ण अब मोहोपचार का दूसरा चरण आरम्भ करते हैं।

अर्जुन के हृदय में, स्वयं अपने प्रति कृष्ण सर्वेश्वर का भाव जगाते हैं, कहते हैं कि यह लोक नित्य और सुखकर नहीं है, इसका नाश होता है और कृष्ण स्वयं इस ब्रह्माण्ड के सृजन, स्थिति और संहार के मूल में अक्षय सत्ता के रूप में विराजमान हैं— 'पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः'। 'प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्।' अपना सर्वलोक महेश्वरत्व को अर्जुन के हृदय में प्रतिष्ठित करके कृष्ण अर्जुन के 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां प्रपन्नम्' भाव को और अधिक सुदृढ़ कर रहे हैं ताकि जो कुछ ज्ञानोपधि का सेवन व अब करायेंगे उसकी ग्रहणशीलता और पचनात्मकता में मन्दी नहीं आये। श्रीकृष्ण अर्जुन के मोह के मूल पर ज्ञान भेषज डालते हैं, व मोह के मूलोच्छेदन की प्रक्रिया का आरम्भ करते हुए कहते हैं तू धर्म और अधर्म न्याय पुण्य और पाप को अधिक महत्ता न दे, क्योंकि पुण्य से मनुष्य को जो स्वर्ग प्राप्ति होती है वह पुण्य क्षय के साथ ही विनष्ट हो जाती है और मनुष्य पुनः मृत्यु लोक में लौट आते हैं— 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'। इसलिए हे महाबाहो! श्रेयस्कर तो यही है कि उन सब कार्यों का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए जिनके पीछे काम, क्रोध और लोभ की मूल प्रेरणा हो क्योंकि ये तीनों नरक के द्वार हैं और आत्मा का नाश करने वाले हैं।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

और, हे अर्जुन! तुम इस सत्य जानो कि अधर्म के कारण कौरवों का नाश हो चुका है, तुम्हें विश्वास न हो तो देखो।

श्रीकृष्ण तुरन्त अर्जुन को दिव्य चक्षु देते हैं और अपना विराट रूप दिखाते हैं जिसे देखकर अर्जुन काँप उठता है। उसकी दृष्टि के समक्ष एक

विशाल अग्नि ज्वाला प्रकट होती है जिसमे नानाविध प्राणी चारो ओर से आकर गिरते हैं और भस्म हो जाते हैं। उसी तरह समस्त कौरव भी कृष्ण के मुख में समा रहे हैं जैसे शत सहस्र नदियों का प्रवाह महादधि में वर्षा ऋतु में उमड उमड कर प्रवेश करता है।

पश्यामि देवास्तव देव देहे

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।
भीष्मद्रोण सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥ 11 26
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
सदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥ 11 27
यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥ 11 28

इस विकराल विराट रूप को देखते ही अर्जुन की चेतना जाग उठती है, वह श्रीकृष्ण को नमस्कार करता है, प्रार्थना करता है कि कृपया वह बतायें कि उग्र-रूप वाले कृष्ण कौन हैं— 'आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो'— यह भी बतायें कि कृष्ण का तात्त्विक और आदि रूप क्या है ?— 'विज्ञातुमिच्छामि भवन्त-माद्य'। इस प्रकार पूछे जाने पर भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं 'हे अर्जुन ! मैं लोकों का नाश करने वाला बढा हुआ महाकाल हूँ। इस समय लोकों को नष्ट करने के लिए प्रकट हुआ हूँ। अत जो प्रतिपक्षियों की सेना में स्थित हुए योद्धा लोग हैं, वे सब तेरे बिना भी जीवित नहीं रहेंगे—'ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे'—अर्थात् सबका नाश हो जायेगा। वे मेरे द्वारा पहले से ही मार दिये गये हैं—'मयैवैते निहताः पूर्वमेव'—इसलिए उठ, शत्रुओं को जीत कर समृद्ध राज्य को प्राप्त करने हेतु तू केवल 'निमित्तमात्रं भव'।

इस प्रकार कृष्ण अर्जुन को कौरवों के नाश का और पाण्डवों की विजय का अद्भुत दर्शन करा देते हैं। अर्जुन जान जाता है कि श्रीकृष्णमयता ही जीवन है और कृष्ण विमुखता मृत्यु ! फलत अर्जुन का मोह भंग होता है और वह कृष्ण को नमस्कार करता हुआ स्पष्ट शब्दों में कहता है कि यह उनके नि-

राल महामृत्यु रूप का दर्शन कर अत्यन्त भीत, हर्षित और आश्चर्यचकित हो गया है अतः यह श्रीकृष्ण के चतुर्भुज रूप के दर्शन का अभिलाषी है, भीत इस लिए कि यह वास्तव में इस दर्शन से कांपने लगा है, हर्षित इसलिए कि कौरवों का नाश और उसकी विजय अवश्यम्भावी एवं सुनिश्चित है, उसे तो केवल निमित्त बनना है उस विनाश के लिए, आश्चर्यचकित इसलिए कि वह प्रथम बार जानता है कि कृष्ण काल के भी काल महाकाल हैं अतः वन्द्य एवं अनुसरणीय हैं। अर्जुन के निवेदन पर कृष्ण अपना सौम्य रूप दिखाते हैं, धीरज बंधाते हैं और अन्ततोगत्वा वह देते हैं कि वह सब धर्मों को छोड़कर मात्र उनकी अर्थात् कृष्ण की शरण ग्रहण करे। वह उसे सब पापों से छुटकारा दिला देंगे—

सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

आश्वस्त हो जाता है अर्जुन इस अन्तिम उपदेश को सुन कर! उसके सारे सन्देह मिट जाते हैं, अहंकार विगलित हो जाता है, जड़ता झड़ जाती है और आत्मज्ञान हृदय में उदय हो उठता है। अर्जुन शीघ्र कह उठता है

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥ 18 73

गीता में अर्जुन के ये अन्तिम शब्द हैं, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, मननीय हैं।

अर्जुन कहता है 'हे अच्युत, आप की प्रसादमयी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है और मुझे स्मृति प्राप्त हुई है, इसलिए मैं संशय रहित हुआ स्थित हूँ और आपके वचनों का पालन करूँगा।'

'मेरा मोह विनष्ट हो गया है', ऐसा अर्जुन ने पहले भी कहा है—मोहोऽयं विगतो मम— ग्यारहवें अध्याय के प्रारम्भ में, ठीक पहले श्लोक में। परन्तु वस्तुतः उस समय अर्जुन को भले ही यह लगा होगा कि उसका मोह चला गया है परन्तु मोह का मूलोच्छेद तो अब होता है जब वह इस कथन के साथ तीन बातें और जोड़ता है स्मृतिर्लब्धा, स्थितोऽस्मि गतसन्देहः और, करिष्ये वचनं तव। यह तीनों मोह के समूल नाश की प्राथमिक शर्तें हैं।

प्रथम शर्त है स्मृति प्राप्त हुई है। गुह्यतम तत्त्व को प्रकट करने वाली श्रीकृष्ण की परम हितकारिणी वाणी को सुन कर अर्जुन को अपने आत्म स्वरूप की स्मृति प्राप्त होती है। यह विस्मृति ही मोह का मूल है। स्मृति की लब्धि स्वात्म योग कारक है, संसार वियोग कारक है। धर्मबोध कारक है, अधर्म नाशकारक है। प्राणी मात्र की आत्मा एक अखण्ड परमात्म स्वरूप है, अमर है, परम पूर्ण है। आत्मा की अमरता और शरीर की नश्वरता का सम्यक्‌बोध अर्जुन के हृदय में वस्तुतः अब उतरता है, पहले यह विलक्षण घटना घटित नहीं

होती। 'माहात्म्य विगतो मम' की बात जो उसने पूर्व में कही थी वह केवल ऊपर ऊपर से मोहनाश का भाव था, वास्तव में स्वात्म स्मृति की सही और गहरी प्राप्ति में ही मोह का सर्वोन्मूलन है। इस प्रसंग में औपनिषदिक श्वेतकेतु की कथा श्रवणीय है। ब्रह्मविद्या के निरूपण में यत्र तत्र गुरु श्वेतकेतु से कहते हैं— 'तत्त्वमसि श्वेतकेतु' अर्थात्, श्वेतकेतु तुम वही हो। श्वेतकेतु यह सब जान कर जब घर आता है तब पिता उसकी गर्व भरी वाणी और वाग्पटुता को देख कर कहते हैं 'तू ने ब्रह्म को जाना या नहीं? ब्रह्मज्ञान के बिना सब व्यर्थ है।' श्वेतकेतु उत्तर देते हैं 'यदि मेरे गुरु को पता होता, तो वे अवश्य ही मुझे सिखाते। उन्होंने मुक्त हाथ से ज्ञान दान किया। जो कुछ आता है, वह सब मुझे दिया है उन्होंने। और स्वयं ही मुझसे उन्होंने कहा कि श्वेतकेतु, अब मेरे पास तेरे सीखने को कुछ नहीं बचा, अब तू घर लौट जा। पिताजी, वे कभी झूठ तो नहीं बोलते।' तब उसके पिता उद्दालक उसे कहते हैं 'तो फिर तुझे मुझे ही सिखाना पड़ेगा। जा, बाहर वृक्ष में फल लगे हैं, एक तोड़ ला।' फल तोड़ कर लाये जाते हैं।

उद्दालक सहज ही बोलते हैं 'इसे काट।' फल काटे जाते हैं। बीज ही बीज भरे हैं। पिता कहते हैं 'कोई एक बीज इनमें से चुन ले। बता, क्या यह एक बीज इतना बड़ा वृक्ष हो सकता है?' श्वेतकेतु कह पड़ता है 'पिताजी, हो सकता है नहीं, होता ही है। एक बीज को देने से इतना बड़ा हो जाता है।' पिता पूछते हैं 'तो, इस बीज में वृक्ष छिपा होगा। तू बीज को भी काट। हम उस वृक्ष को खोजें जो इसके भीतर छिपा है।' श्वेतकेतु बीज काट देते हैं, पर वहाँ वृक्ष नहीं है, कुछ भी नहीं है। यहाँ तो शून्य है। श्वेतकेतु कहते हैं 'पितृदेव, यहाँ तो मैं कुछ भी नहीं देखता हूँ।' उद्दालक मृदु और गम्भीर हास्य से कहते हैं 'जो नहीं दिखाई पड़ रहा है, जो अदृश्य है, उसी से यह महावृक्ष यह दृश्य, पैदा होता है। और हम भी उस अदृश्य सत्ता से आये हैं। प्रत्येक प्राणी में परम सत्ता का वास है, पर अदृश्य है।' इस पर श्वेतकेतु प्रश्न कर बैठता है 'क्या मैं भी उसी परम तत्त्व से आया हूँ?' इस प्रश्न के उत्तर में ही उपनिषदों का यह महावचन है 'तत्त्वमसि, श्वेतकेतु'। हाँ, श्वेतकेतु, तू भी वहीं से आया है, तू भी वही है।'

और कहते हैं, यह अमृत वचन सुनते ही श्वेतकेतु को स्वात्म बोध हो हो जाता है, 'स्मृति लब्धा' का यही रहस्य है। अर्जुन को श्रीकृष्ण के परम वचन सुनकर 'तत्त्वमसि' की स्मृति हो जाती है। सारी गीता इसी महावाक्य का दिव्योपदेश है, ज्ञानदान है जिसे पाकर दिया गया है। और, जिसे सुनकर अर्जुन मोह से सर्वथा विनिर्मुक्त हो जाता है। मोह निद्रा भंग होते ही वह

आत्मगत प से अपने आपको, कृष्ण की तरह, परिपूर्ण पाता है।

दूसरी बात है 'स्थितोऽस्मि गतसन्देह'। यह मोहनाश की कसौटी है, फलरूप से, 'स्मृति लब्धा' मोह नाश की कारण भूमि है, ज्ञान रूप से।

सारे सन्देह, स्मृति प्राप्ति से मोहनाश के फलस्वरूप, नष्ट हो गये हैं। अब अर्जुन की बुद्धि स्वस्थ रूप से स्थिर और स्थित है— स्थितप्रज्ञ की अवस्था म आ जाता है अर्जुन! आत्मविस्मृति के अज्ञानान्धकार म ही संशय और सन्देह का प्रबल वेग रहता है। श्रीकृष्ण के स्वरूप एवं अतुल सामर्थ्य की सम्यक स्मृति के शुभ्र प्रकाश मे सब संशय ऐसे खो जाते हैं जैसे दीपज्योति के प्रज्वलित होते ही तिमिर का निरसन हो जाता है जैसे सूर्योदय के साथ ही रात्रि विदा हो जाती ह रात के तारे विलुप्त हो जाते हैं। सब अनायास ही हो जाता है, कुछ करना नही पडता स्थिर होने के लिए! अर्जुन पूर्णतया आश्वस्त है कि कृष्ण का साथ ही विजय प्राप्ति की अटल गारण्टी है। अर्जुन कहता है म स्थित हो गया हू मेरी प्रज्ञा निष्कम्प दीपशिखा की भाँति स्थिर है, अडिग है। तूफान आयें, आँधियाँ उठें तो भी अब मेरे भीतर कोई कम्पन नहीं। मैं स्वात्म स्थिति म प्रतिष्ठित हूँ।

तीसरी बात है 'करिष्ये वचनं तव'। अब मैं आपके आदेश की प्रतीक्षा म अविचल खडा हूँ। आत्म योग म स्थित रह कर आपकी आज्ञा का पालन करूँगा। मैं आपके हाथ मे 'निमित्त' होकर कम करूँगा, आपके वचन पालूँगा गुरु वाक्य मे आदेशानुसार हाथ बटाऊँगा।

यही है अर्जुन की— शिष्य की— गुरु के प्रति पूर्ण शरणागति का शुद्ध स्वरूप। इसम सबसे रोचक रहस्य की बात तो यह है कि यह सब गुरु की प्रसन्नता व कृपा से घटित होता है— 'त्वत्प्रसादात्'। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कथन है कि 'आपकी कृपा से, हे अच्युत! मैं स्मृतियुक्त मोहविहीन, गतस देह और स्थितप्रज्ञ हो गया हूँ।' इस निवेदन मे अहकार का विगलन स्पष्ट है। एक और बहुमूल्य तथ्य यह भी है कि ग्यारहवें अध्याय म भी अर्जुन अपने मोह नाश का निवेदन करता है—

'मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ 11 1 ॥

इस प्रकार भगवान के वचन सुनकर बोला', हे भगवन्! मेरे पर अनुग्रह करने के लिए परम गोपनीय, अध्यात्म विषयक वचन आपने कहे उससे मेरा अज्ञान नष्ट हो गया है। कृपा तो इसमे भी अर्जुन श्रीकृष्ण की मानता है पर कहता है कि उससे मेरा मोह नष्ट हो गया। 'मेरा' और 'पराया' अहकार का ही द्योतन करता है। यह मोहनाश 'मेरे' का आभूषण बन कर आया है, अतः इस

म्यिनि के लोट जान की सबा ह्। परन्तु अब जिस माहनाश का निवेदन है, वह 'मैं' के साथ है, जिसके मूल मे कृष्ण कृपाजन्य आत्मस्मृति की प्राप्ति है—'स्मृतिलब्धा'।

साराशत, अर्जुन श्री कृष्ण की कृपा और अपने पूर्ण समपण के प्रसाद स माहार्णव से पार आत्म स्मृति के नित्यत्व मे प्रतिष्ठित हो जाता है। यह सब उस प्रक्रिया के प्रवाह म हाता है जिसके मूल मे अर्जुन द्वारा, युद्ध की निमी पिका मे, देखा हुआ मृत्यु का सूक्ष्म और विकराल रूप है। अर्जुन का मृत्यु दर्शन गीताज्ञान के प्रवाह का निमित्त बन कर मानव मात्र को सकट काल मे नयी सूझ और अभिनव साहस देने की सामर्थ्य से परिपूर्ण है। इसम मानव के जय-पथ का पाथेय है, जय यात्रा की सिद्धि है। मोह जय ही मनुष्य जीवन की मूल और बहुमूल्य जय है। मोह ही मृत्यु है और मोहजय ही मृत्युञ्जयता है, सत्य जीवन की सिद्ध सामग्री है। निस्सन्देह, विजय मृत्यु मार्गिनी है।

2 विदुर द्वारा धृतराष्ट्र को युद्धोपरान्त दिखाया जाने वाला मृत्यु दर्शन निमम रूप —

महाभारत के युद्ध की समाप्ति पर ज्याही धृतराष्ट्र को कौरवो के सर्वनाश और अपने सौ पुत्रो के मार जाने की सूचना मिलती है और वह शीघ्र ही शोक के घने मेघो से आक्रान्त, मूर्छित सा गिर पडता है, उसकी दशा अत्यन्त दयनीय हो जाती है, जैसे समस्त शाखाओ के कट जाने पर वृक्ष की होती है। वह पुत्र शोक से सतप्त और विह्वल हो जाता है, घोर पश्चाताप-दाह से जलने लगता है कि उसने महात्मा विदुर, भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य और श्रीकृष्ण के युद्ध रोकने और सन्धि द्वारा शान्ति सस्थापन के गम्भीर, लोकहितकारी और न्यायोचित परामर्श को नही माना, उसे पुत्रमोह के कारण स्वीकृति प्रदान नही की। सजय भरसक प्रयत्न करता है, धृतराष्ट्र को समझाने के लिए कि वह अब बीती हुई बात के लिए पश्चाताप न करें—'नातीत अर्थं वै पश्चात्तापेन युज्यत' (स्त्रीपर्व 1 35)। सान्त्वना देते समय सजय एक बडी कडवी बात कह देते हैं, सभवत इसलिए कि कभी कभी घनीभूत मोह की, शोक की, जडता को काटने के लिए गहरा कडुआ सत्य ठीक वैसे ही उपयुक्त सिद्ध हो जाता है जैसे पीतरोग की जड मूल सहित विनष्टि के लिए कुटक की औषध कारगर हो जाती है। सजय कहते हैं 'जो मनुष्य स्वय आग जला कर उसे कपडे मे लपेट लेता है और जलने पर मन ही मन सताप का अनुभव करता है, वह बुद्धिमान नही कहा जाता। पुत्र सहित आपने ही अपने लोभ रूपी घी से सींच कर और वचन रूपी वायु से प्रेरित करके पार्थरूपी अग्नि को प्रज्वलित किया था अब आप शोक छोडिये और बुद्धि से अपने मन को सुस्थिर कीजिये।'—(स्त्री

पव 1 39 43) फिर उनके शोक निवृत्ति हेतु स्वय महात्मा विदुर प्रयत्न करने आते हैं सान्त्वना देते समय वे काल रूपी युद्ध के अत्यन्त निमम और दुर्निवार रूप का दशन धृतराष्ट्र को दिखाते हैं हे भरतन दन ! क्षत्रियशिरोमणे ! काल सब को ले जाता है शूरवीर को, कायर को, युद्ध करने वाले को, न करने वाले को, सुहृदो को, शत्रुओ को, वह किसी को नही छोडता । वह सब को अपनी ओर खीचता है— 'यम कपति' । तब आप व्यथ ही क्या शोक करते हो— 'किमथमनुशोचसि' ?

'हे कुरुश्रेष्ठ ! काल सभी प्राणियो को खीच लेता है, उसका न कोई प्रिय, न द्वेष्य । जैसे वायु तृण के अग्रभाग को चहुँ ओर हिलाती व झुकाती रहती है, वैसे ही काल समस्त प्राणियो को अवश करके अपने अधीन कर लेता है ।' विदुर का मृत्यु दशन यही है जो वह धृतराष्ट्र को कराता है—

काल कषति भूतानि सर्वाणि विविधा युत ।
न कालस्य प्रिय कश्चिन्न द्वेष्य कुरुसत्तम ॥
यथा वायुस्तृणाग्राणि सवतयति सवश ।
तथा कालवश यान्ति भूतानि भरतपभ ॥
स्त्रीपव, 2 8 9

काल किसी को पहले ले जाता है, किसी को बाद म । वह ले जाता है जरूर, फिर अन्य व्यथा, विलाप, शोक क्या, किसलिए—'तत्र का परिदेवना' ? काल ही प्राणियो को पकाता है और उनका सहार करता है । काल सब के सो जाने पर भी जागता है, काल का उल्लघन करना अत्यन्त कठिन है

काल पचति भूतानि काल सहरते प्रजा ।
काल सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रम ॥
स्त्रीपव 2 24

यह मृत्यु के दुर्निवार और निमम रूप का दशन है । अटल है मृत्यु, यह विकराल रूप म आये या मदु रूप मे, आती है वह जरूर ? देहधारियो को काल के उदर म तो पहुँचना ही है—'मरणान्त च जीवितम्', 'सर्वेक्षयान्ता ।'

काल के समक्ष सभी असहाय ह, सवथा विवश । कोई इसकी चपेट से नहीं बच सकता । काल के इस दु सह दुर्निवार और निमम रूप के आगे सब के सब कितने अवश और निस्सहाय हैं, उसका धृतराष्ट्र को दशन बोध कराने के लिए विदुर मिट्टी के बत्तन की उपमा देते हैं और कहते हैं 'जस मिट्टी का बत्तन बनाये जाने के समय कभी चाक पर चढाते ही नष्ट हो जाता है, कभी कुछ-कुछ बनने पर कभी पूरा बन जाने पर, कभी सूत से काट दने पर कभी चाक से उतारते समय कभी उतर जाने पर, कभी गीली या सूखी अवस्था म,

कभी पकाये जाते समय, कभी आवों से उतारते समय, कभी पाक स्थान से उठा कर ले जाते समय अथवा कभी उसे उपयोग में लाते समय फूट जाता है, वैसी ही दशा देहधारियों के शरीर की भी होती है। कोई गर्भ में रहते समय, कोई पैदा हो जाने पर, कोई कई दिनों का होने पर, कोई पन्द्रह दिन का, कोई एक मास का तथा कोई एक या दो साल का होने पर, कोई युवावस्था में, कोई मध्यावस्था में और कोई वृद्धावस्था में पहुँचने पर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।'

यथा च मृण्मयं भाण्डं चक्रारूढं विपद्यते।
किंचित्प्रक्रियमाणं वा कृतमात्रमथापि वा।।
छिन्नं वाप्यवरोप्यन्तमवतीर्णमथापि वा।
आर्द्रंवाप्यथवा शुष्कं पच्यमानमथापि वा।।
उत्तार्यमाणमापाकादुद्धृतं चापि भारत।
अथवा परिभुज्यन्तमेवं देहाः शरीरिणाम्।।
गर्भस्थो वा प्रसूतो वाप्यथवा दिवसान्तरः।
अर्धमासगतो वापि मासमात्रगतोऽपि वा।।
संवत्सरगतो वापि द्विसंवत्सर एव वा।
यौवनस्थोऽथ मध्यस्थो वृद्धो वापि विपद्यते।।
स्त्रीपर्व 3 12 16

तात्पर्य यह है कि गर्भाधान के समय से ही मृत्यु का विधान लागू हो जाता है, जन्म के पूर्व गर्भपात द्वारा या जन्म के पश्चात् किसी क्षण काल जीवन का भक्षण कर सकता है। आयु काल का आहार है, वह मृत्यु के द्वारा इसे ग्रहण करता है। श्रीकृष्ण की गीता का वचन है जन्मने वाले का मरण निश्चित है, मरे हुए का जन्म निश्चित है, मृत्यु अपरिहार्य है। अतः ध्रुव मृत्यु के लिए शोक करना व्यर्थ है, वह कदापि उचित नहीं। विदुर भी धृतराष्ट्र को बार बार यही समझा रहे हैं कि 'इस प्रकार मरना तो लोक जीवन की आदि रीति है, किस लिए फिर उसके लिए अनुताप किया जाये—'एवं संसिद्धिके लोके किमर्थं अनुतप्यसे'—(स्त्री पर्व 3 17) वस्तुतः 'जो प्रज्ञावान्, सत्त्वगुण में नित्य स्थित मानव जो सबका हित चाहने वाले और प्राणियों के इस समागम को समझने वाले हैं, वे शोक मोह से परे निर्द्वन्द्व परम गति को पाने वाले होते हैं'—

ये तु प्राज्ञाः स्थिताः सत्त्वे संसारेऽस्मिन् हितैषिणः
समागमज्ञा भूतानां ते यान्ति परमां गतिम्।।
स्त्रीपर्व 3 20

जन्म और मरण जीवन सरिता के ही दो कूल हैं। यह जीवन का शाश्वत सत्य है। इसे जानकर मनुष्य को शोक और मोह से ऊपर उठ जाना चाहिए। यही श्रेयस्कर है।

महात्मा विदुर का यह उपदेश मोहाक्रान्त और शोकग्रस्त धृतराष्ट्र के लिए, धृतराष्ट्र जो अधर्मरूपी दुर्योधन द्रुम के मूल हैं, कारगर याने सान्त्वना प्रदायक और शान्तिप्रद सिद्ध होता है। वस्तुत अधर्म ही अपमृत्यु का कारण होता है। महाभारत म घटित महानाश का अधर्म ही मूल कारण है। अत सौ पुत्रो सहित ग्यारह अक्षौहिणी और पाण्डवो की शेष सात अक्षौहिणी सेना के सवनाश का प्रलयकर, महाक्रूर और निमम दर्शन धृतराष्ट्र के महामोह जन्य घनीभूत शोकतिमिर को दूर करने की क्षमता व्यक्त कर सका ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। यही सोच कर विदुर छोटे भाई होते हुए भी सान्त्वना के पूव मृत्यु के इस भयावह और दु सह्य रूप का दशन धृतराष्ट्र को कराते हैं। मृत्यु दशन मोहनाश का एक सशक्त उपचार है, शोक हरण का सिद्ध साधन है, मनोजय माग का आध्यात्मिक पाथेय है। शोक सविग्न अर्जुन की तरह सतप्त धृतराष्ट्र भी मृत्यु के द्वार से सन्ताप-नाश और शान्ति के विजय माग की यात्रा को सम्पन्न करता है, एक श्रीकृष्णोपदेश स और दूसरा विदुरोपदेश स।

3 युधिष्ठिर का मृत्यु दशन कारुणिक और माननीय रूप

कुरुक्षेत्र युद्ध के पश्चात् छिन्न भिन्न असख्य मृत नरवीरो की रुधिर सनी नरकतुल्य शव स्थली बन चुका है अनेक अनाथ और सनाथ योद्धा मरे है। धृतराष्ट्र कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर से उन सभी मृत वीरो की अन्त्येष्टि क्रिया हेतु विधि अनुसार दाह सस्कार और प्रेत कम करवाने क लिए कहते हैं। शास्त्रोक्त विधि से उनका दाह क्रम कराय जान पर युधिष्ठिर आदि सारे कुरुवशज और कुरुकुलवधुओ के साथ अपन सभी मत बान्धव वीरो को जलाञ्जलिया देन के लिए पुण्यतोया भागीरथी के तट पर पहुचते हैं। अब कुलपत्नियाँ अत्यन्त दु खित होकर राते रोते अपने पुत्र और पतियो को जलाञ्जलियाँ द रही होती है और पुरुष जन भी अपन सुहृदजनो को जलाञ्जलि देन लगते हैं, उस समय शोकाकुला कुन्ती असह्य व्यथा भरी मन्द वाणी से कह उठती है 'पुत्रो! जिसे अर्जुन ने पराजित किया है और जिसे तुम सूतपुत्र एव राधेय के नाम स जानते हो, जो सेना के मध्यभाग म सूय के समान प्रकाशित होता था, उस महान् एव सत्यप्रतिज्ञ कण के लिए भी तुम लोग जलदान करो—कुरुध्वमुदक तस्य भ्रातु रक्लिष्टकमण — वह तुम्हारा बडा भाई था। भगवान् सूय के अश से वह वीर मेरे ही गभ से उत्पन्न हुआ था।'

'स हि व पूवजो भ्राता भास्करान्मय्यजायत।'
स्त्रीपव 27 12

बस, यही है युधिष्ठिर के मत्यु दशन की भूमिका। धरती खिसक गई पाण्डवो के पद तलो से, यह सुनते ही। आश्चयचकित और अश्रुपूरित, विलाप

करते हुए युधिष्ठिर कर्ण एवं अन्य सभी को जलदान करने के पश्चात्, पश्चाताप के दावानल में गिर पड़ते हैं। स्वयं अपने को भ्रातृ घात के अक्षम्य अपराध का कारण मान कर दुःसह वेदना म रो पड़ते है और कहते हैं 'मैं बड़ा पापी हूँ, मैं ऋण के भार मे डूब रहा हूँ, इस तरह जल रहा हूँ मानो किसी ने मुझे प्रदीप्त आग मे ढकेल दिया है। मुझ इस पापी ने कुन्ती मातृत्व के रहस्य न जानने के कारण अपने बड़े भाई (कर्ण) को मरवा दिया', ऐसा कहते हुए उन्होंने शापयुक्त शब्दों में इस आक्रोश की अभिव्यक्ति दी कि 'आज से स्त्रियों के मन मे कोई गुप्त रहस्य छिपा नहीं रह सकेगा'— अतो मनसि यद् गुह्यम् स्त्रीणा तन भविष्यति। (स्त्रीपर्व, 27 29) मुझे यदि यह पहले पता लग जाता कि कर्ण मेरे अग्रज हैं तो कौरवों और अन्य लक्ष लक्ष वीर पुरुषों का महाविनाश रुक जाता। मैं घोर पापी हूँ, मेरे ही कारण यह युद्ध और विध्वंस हुआ ह', यह कहते हुए युधिष्ठिर अपने आपको मुक्त कंठ से कोसते है, अपने दुर्भाग्य, कुलनाश और जन धन की हिंसक हानि पर रुदन करते हैं, और अपने क्षात्र बल और बुद्धि को धिक्कारते हैं—

धिगस्तु क्षात्रमाचार धिगस्तु बल पौरुषम्।
धिगस्त्वमर्ष यनमामापद गमिता वयम॥
स्त्रीपर्व 7 5

'धिक्कार ह क्षत्रियों आचार का, धिक्कार है ऐसे बल और पौरुष को, धिक्कार है इस अमर्ष का जिसके कारण हम इस विपदा मे पड़े!'

यह है धर्मराज युधिष्ठिर द्वारा देखा हुआ मृत्यु का तीसरा रूप, जो अत्यन्त करुण और मानवीय है। इस रूप के साक्षात्कार से युधिष्ठिर को स्पष्ट लगा कि 'सही बात तो यह है कि इस युद्ध म हमारे शत्रुओं की ही जीत हुई ह, उन्हीं का मनोरथ सिद्ध हुआ है—अमित्रा न समृद्धार्था, कौरवों का प्रयोजन तो उनके जीवन के साथ ही समाप्त हो गया— वृत्तार्था कुरव किल। हम अभागे व पुहीन होकर आत्मीय जनों को मार कर अभी भी जीवित हैं, इसमे हमने कौनसा धर्म कमाया है, कैसा पुण्य अर्जित किया है?

अमित्रा न समृद्धार्था वृत्तार्था कुरव किल।
आत्मानमात्मना हत्वा किं धर्मफलमाप्नुम॥
स्त्रीपर्व 7 4

वस्तुस्थिति तो यह है कि 'हम उन कुत्तों के समान हैं जो मास के लिए जीभ लपलपाते रहते हैं—'आमिषे गृध्यमानानाम् शुनामिव'। जिस दिन के लिए माता पिता जप तप, व्रत दान, पूजा पाठ करते हैं, ब्रह्मचर्य, सत्य भाषण, तितिक्षा आदि का साधन पालते हैं, देवी देवताओं की उपासना करते हैं इस

अभिलाषा से कि संतान होगी, सुख देगी— यह दिन उनसे छिन गया, उनकी यह आशा छिन्न-भिन्न होई और यह सब हमारे कारण हुआ, यही दुनिया कहेगी, 'वयमवास्य लोकस्य विनाशे कारण स्मृता'। हमने शूरवीरों को मारा, पाप किया और अपने ही देश का विनाश कर डाला। शत्रुओं को मार कर भले ही हमारा क्रोध दूर हो गया हो, परंतु यह शोक मुझे निरंतर संतप्त कर रहा है, रौंध रहा है—

> हता शूरा कृत पाप विषय स्वो विनाशित ।
> हत्वा नो विगतो मन्यु शोको मा रुन्धयत्यम् ॥
>
> स्त्रीपर्व 7 35 36

मैं ऐसा राज्य कैसे भोगू ? —'न ममार्थोऽस्ति राज्येन भोगर्वा।'

कितनी गहरी वेदना है युधिष्ठिर के अंतःस्थल में ! मानवीय स्नेह-द्रुप ने माना व्याकुलता का रूप ग्रहण कर लिया हो ! मानव मात्र के प्रति युधिष्ठिर की सहज समुत्पन्न होने वाली आत्मीयता अश्रुधार बन कर फूट पड़ी है, इसलिए नही कि वे भयातुर है पर इसलिए कि मानवीय संवेदना और अभय का प्रदाता धर्मराज विपुल हिंसा और मानव रक्तपात का स्रोत व साझीदार कैसे बन गया ! वे युद्ध नही चाहते थे, उसे टालने का उन्होंने हर समय प्रयत्न किया पर युद्ध जब उपस्थित हो जाता है तो वे स्थिर रहते हैं, युद्ध में भी वे स्थिर रहे, पर युद्ध के परिणाम से, और अपने ही अग्रज कर्ण के जीते जी स्वय उसकी मृत्यु की अनभिज्ञता से कि वह प्रथम कौन्तेय था, उनकी सत्यपरक स्थिरता एक दम डगमगा जाती है। वे अधीर हो उठते हैं। उनकी यह व्याकुलता किसी भय या स्वार्थ के कारण नही है, न ही यह मृत्यु की निर्ममता के कारण है, यह केवल इस कारण है कि वे इस युद्धजन्य विध्वंस और विनाश में अपने स्वयं के मूल दायित्व का दर्शन करते हैं। अपना दायित्व मृत्यु के प्रति समझने के कारण ही वे अशांत, क्षत विक्षत और शोक संतप्त हो जाते हैं। उनका आत्मदर्शन प्रखरता की सीमा को छू जाता है और गहरे मानवीय करुण भाव में बहने लगती है उनकी संवेदनशील व्याकुलता ! यह तो मानव मात्र को मृत्यु के भय से मुक्त करने वाली व्याकुलता का दर्शन है ! और, यही गहरे अर्थ में महाभारत का उत्तमोपदेश एवं उद्देश्य है तथा आत्मीयता युक्त अभय दान इसकी आत्मा है—

> अभय सर्वभूतेभ्यो यो ददाति महीपते।
> स गच्छति पर स्थान विष्णो पदमनामयम् ॥

मृत्यु से अभय दान देने वाला विष्णु के अनामय एवं परम पद को प्राप्त होता है। मृत्यु से अभय दान का मतलब है जीवन दान, जीवन प्रवाह में आने वाले

भयप्रद क्षणों में धैर्य, साहस और सूझ के साथ समुपस्थित विपत्ति से निपट लेने का मान दान। चूंकि जीवन से अधिक प्रिय और पावन अन्य कुछ भी नहीं है, इसलिए जीवन की रक्षा ही सबसे बड़ा धर्म है, दायित्व कर्म है। युधिष्ठिर मृत्यु से विचलित नहीं होते, बल्कि मृत्यु के प्रति अपने मन्तव्य के कारण व्यथित होते हैं। 'उनके लिए मृत्यु एक मानवीय परिस्थिति है, दुर्निवार नहीं, भयावह नहीं, करुण है, क्योंकि उसके आते ही कितनी आशाएं, कितनी आकांक्षाएं टूटती हैं, और मनुष्य अपने भीतर टूटने लगता है। महाभारतकार इसी रूप को सामने रख कर महाभारत की फल श्रुति द्वारा इसमें दिखलाना चाहते हैं कि राज्य आदि छोटे मूल्य हैं, बड़ा मूल्य है जीवन और उसकी रक्षा। मृत्यु का आघात जिस करुणा के स्रोत को उद्वेलित करता है, वह करुणा ही सबसे बड़ी मानवीय निधि है।' (परम्परा बन्धन नहीं', विद्यानिवास मिश्र, पृष्ठ 23)।

मनुष्य के जीवन की पवित्रता को स्वीकार कर, जीवन की रक्षा करना ही 'आनृशंस्य' है जिसकी ज्वलंत अभिव्यक्ति युधिष्ठिर का करुणापूरित व्यक्तित्व है, उनकी नरोत्तमता का निकष है, मानव को नारायण में प्रतिष्ठित होने की सिद्ध पात्रता है। युद्ध की त्रास परिस्थिति इस अखण्ड सत्य के लिए 'न मानुषात् परतरं किंचिदस्ति — पिछवाई का काम करती है। यह जीवन का विराट और सनातन सत्य है कि नर में नारायण है, नर ही नारायण है आनृशंस्य मानव की नर पद से नारायण पद की यात्रा का अनिवार्य द्वार है। नरोत्तमत्व विकसित करने में मनुष्य के जीवन में जो भीतरी और बाह्य विघ्न और विषमताएं आती हैं, उनका संयम प्रज्ञा और पराक्रम से सफल सामना कर लेना नर की विजय यात्रा का प्रथम चरण है, नरोत्तम से नारायण (विष्णु-पद) रूप में विकसित और प्रतिष्ठित होना, और मार्ग में समुपस्थित विघ्नों पर फतह प्राप्त करते हुए स्वयं विजय रूप हो जाना मानव जय यात्रा का दूसरा, महत्त्वपूर्ण और अंतिम चरण है। प्रथम चरण की यात्रा, एक ओर, गुणारोहण की यात्रा है जिसमें मनुष्य सतोगुण में प्रतिष्ठित रहता है, और, दूसरी ओर, विराट विश्व में निवास करने वाले प्राणियों, विशेषकर मानव समुदाय के प्रति आनृशंस्य सम्मत सनातन सत्य, प्रेम और करुणा भरी दृष्टि से अपने सद्व्यवहार को 'बहुजनहिताय सुखाय' बना लेता है। दूसरे चरण की यात्रा गुणातीतारूढ़ होने की यात्रा है जिसमें नर नरोत्तम की सीमाओं से परे नारायण की अखण्ड, अद्वय, चिन्मय परावस्था में नित्य प्रतिष्ठित, महर्षि वेदव्यास या योगेश्वर श्रीकृष्ण की तरह लोक संग्रह में निर्लिप्त रहता है। नर नारायण का रूप है, इस स्थिति का साक्षात्कार और उसमें अविचल प्रतिष्ठा ही मानव जीवन में इस यात्रा की परा गति है। स्वत्व को पाकर सबका पाना इस यात्रा का पहला

पदार्थ है और नश्वर नर आत्मभाव में रम जाता ही नर में नारायणत्व का प्राप्त है। नारायण मञ्जिल है। नर आदि बिन्दु।

अतः स्पष्ट है कि मानव अपनी सीमाओं का उपयुक्त साधना द्वारा अतिक्रमण करता हुआ नारायण की निकटता को छू लेता है, पा लेता है, प्रेम से प्रकट होकर रह सकता है। यह अतिक्रमण द्विविध होता है भीतरी और बाहरी। अपने भीतर या अन्तर्गत नारायण (आत्म रूप) के साक्षात्कार द्वारा मानव स्वयं में पूर्ण तृप्त, आत्मरत और एकीकृत हो जाता है, सर्वस्थ नारायण (विश्वात्म रूप) के साक्षात्कार द्वारा मानव पूर्ण सन्तुष्ट, स्वस्थ और सब में एकीभूत हो जाता है। प्रथम अतिक्रमण में मनुष्य अपने आन्तरिक दौर्बल्य, भेद बुद्धि और दोष दृष्टि पर आत्म तृप्ति और ब्रह्मदृष्टि की विजय यात्रा पूरी करता है, दूसरे अतिक्रमण में बाह्य नाम रूपात्मक अवरोधों और अनुकूल प्रतिकूल परिस्थितियों के पीछे क्रियाशील अदृश्य नारायण की सत्ता के सतत दर्शन द्वारा मानव अपने अहजन्य पार्थक्य वाले व्यक्तित्व को विराट प्रकृति की वेदि पर स्वाहा करता हुआ सर्वात्म दृष्टि की स्वात्म दृष्टि पर विजय की यात्रा सम्पन्न करता है। इस तरह सर्वत्र, सर्वकाल नारायण दृष्टि के पनप जाने पर अन्तर्जगत् (स्व) और बाह्य जगत् (पर) की भेद बुद्धि का विलय और अभेद बुद्धि का अभ्युदय हो जाता है। और, मानव अनकहे शब्दों में श्रीकृष्ण के इन वाक्यों की सत्यता का मधुर और दिव्य अनुभव कर लेता है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
गीता 6 30

अतः अनन्त सम्भावनाएँ हैं मानव में विकास की, और नारायण सम्पूर्ण विकास की छोरहीन सीमा है। मानव उसमें रत और रमणशील होने की सामर्थ्य का पूर्ण धनी है।

मानव जीवन की श्रेष्ठता, सिद्धि और सार्थकता इसी आत्मरमण में है जिसकी मञ्जिल नारायण है। नर यात्री है इस मञ्जिल का, मानव मात्र का अधिकार है इस स्वधाम, परम धाम, में आ रहने का। यह अन्तर्मुखी जययात्रा का तोरण द्वार है, समस्त द्वन्द्वों से परे। परन्तु उन्हीं में से होकर वहाँ पहुँचना पड़ता है। यह है मानव की जय यात्रा का भीतरी द्वार।

कुरुक्षेत्र का महायुद्ध विजय का बाहरी द्वार

जय यात्रा का बाहरी द्वार अत्यन्त स्थूल है, भयावह और महाविनाशकारी युद्ध जन्य द्वार। इसमें देश देशों की संयुक्त सेनाएं दो पक्षों में बँट कर परस्पर युद्ध में मरने मारने रणाङ्गण में पराक्रम और शौर्य से लड़ पड़ती हैं।

युद्ध के कारण और परिस्थितियाँ अनेक हो सकते हैं, परन्तु इनके पीछे भीषण सैद्धान्तिक मतभेद, स्वार्थ-पूर्ण वैमनस्य, अर्थ काम जन्य वैषम्य, सीमा विस्तार आदि से उत्पन्न मतभेद और उग्रवादिता का प्राधान्य प्रायः रहा करता है। परन्तु हर पक्ष अपने पक्ष को ही न्यायोचित और बहुमङ्गलकारी मानता है, और उसी पक्ष के प्रबल प्रचार से अनेक राज्य रणोद्यत दो परस्पर विरोधी पक्षों मे बट जाते हैं। व्यासकृत महाकाव्य मे कौरव पक्ष और पाण्डव पक्ष राज्याधिकार के प्रश्न को लेकर युद्ध मे विजयार्थ प्रवेश करते हैं। परन्तु प्रधानतः धर्म और अधर्म को लेकर ही यह प्रश्न व्यक्त हो रहा है।

कौरवों की ओर ग्यारह अक्षौहिणी सेना इकट्ठी होती है, जिसमें अनेक राज्यों के राजे महाराजे कौरव नरेश दुर्योधन के समर्थन मे सयुक्त होते हैं। अतुल पराक्रमी और अजेय पितामह भीष्म कौरव सेनाध्यक्ष पद पर अभिषिक्त होते हैं और उनके नेतृत्व मे बड़े बड़े रथी, महारथी, अतिरथी कौरव सैन्य सचालन करते हैं— केवल सूतनन्दन कर्ण को छोड कर। अप्रतिम तप और तेज वाले प्रख्यात द्रोणाचार्य, आचार्य कृप, द्रोणपुत्र अश्वत्थामा, महाराज शल्य, सैन्धव नरेश जयद्रथ, कलिङ्गराज, निषाद राज, अवन्तिराज, श्रुतकर्मा, केतुमान्, भानुमान्, राजा शल, दुःशासन समेत दुर्योधन के सब भाई, राक्षस राजा अलम्बुष, कृत वर्मा, भगदत्त, कौशल नरेश बृहद्बल, चित्रसेन, त्रिगर्तराज सुशर्मा, सुराष्ट्रराज सुधन्वा, मामा शकुनि और उसके पुत्र महाबली अम्बुष्ठ बाह्लीक, आदि अनेक शूरवीर कौरव सेना के गौरव और मनोबल को बढ़ाते हैं।

पाण्डवों के महाराज युधिष्ठिर का पक्ष सत्य, मानवोचित न्याय और शान्ति का प्रबल पक्ष है, वे अपने पैतृक उत्तराधिकार के अन्तर्गत राज्य प्राप्ति मे इच्छुक है, शान्ति द्वारा ही राज्य प्राप्त्यर्थ किये गये समस्त प्रयत्नों सर्वथा विफल हो जाने पर ही वे अन्ततोगत्वा यादव राजवश भूषण श्रीकृष्ण के न्याय और नीतिप्रिय नेतृत्व मे युद्ध करने पर विवश और उद्यत हो जाते हैं। उनकी ओर से केवल सात अक्षौहिणी सेना एकत्रित होती है, पाञ्चाल नरेश द्रुपद अपने यज्ञोत्पन्न पुत्र धृष्टद्युम्न के साथ पाण्डवों के पक्ष मे खड़े है, विराट भी अपने बलों एवं योद्धा पुत्र उत्तर, शख और शिखण्डी के साथ आये, राजा सात्यकि इरावान्, राजा नील, मालवराज, चेदिराज, पौरव, युधामन्यु, उत्तमौजा आदि पाण्डवों की ओर से कौरवों के विरुद्ध युद्ध में होते हैं।

कौरव-पाण्डवों का देश-व्यापी 'महाभारत' नामक महायुद्ध अठारह दिन चलता है जिसमें दोनों की सेनाएँ मर खप जाती हैं, केवल 10

जीवित बचते हैं। 'महाभारत' महाकाव्य में इस युद्ध का वास्तविक विशद विवरण पाँच पर्वों में प्राप्य है — भीष्मपर्व, द्रोणपर्व, कर्णपर्व, शल्यपर्व, और सौप्तिकपर्व। भीष्मपर्व में प्रथम दस दिनों के घोर विध्वंसकारी युद्ध और भीष्म के अद्भुत पराक्रम और उदारचित्तता का विवरण है। युद्धारम्भ के पूर्व धर्मराज युधिष्ठिर अपने रथ से उतर कर भीष्म पितामह के रथ की तरफ पैदल ही कौरव सेना के मध्य में से होकर जाते हैं। भीम, अर्जुन आदि को यह आचरण अच्छा नहीं लगता है पर श्रीकृष्ण इस औचित्य को अत्यन्त शोभनीय बताते हैं। युधिष्ठिर युद्ध की भयावह वेला में भी गुरुजनों को प्रणाम करना नहीं भूलते, यह उनके धर्मपालन की पराकाष्ठा है। भीष्म उन्हें आशीर्वाद देते हैं, व अपने पौत्र युधिष्ठिर के इस शील और शिष्टाचार को देखकर पुलकित हो जाते हैं और कहते हैं, 'वत्स, तुम्हारी विजय हो।' कृष्ण जिसके सहायक हैं, विजय उसी की होगी।'

धृतराष्ट्र का पुत्र युयुत्सु युधिष्ठिर के इस विनम्र आचार को देख कर इतना प्रभावित और प्रसन्न हो जाता है कि वह कौरव-सेना छोड़कर उसी समय पाण्डवों से जा मिलता है। युधिष्ठिर उन्हें गले लगाता है, यह पाण्डवों की जय यात्रा का शुभारम्भ है।

युद्ध के प्रथम दस दिन — भीष्मपर्व

शङ्खनाद के साथ भयानक युद्ध आरम्भ हो जाता है। सेनाएँ सेनाओं से टकराती हैं, हाथी से हाथी, घोड़े से घोड़ा, पैदल से पैदल। वीरों की सिंह गर्जना, शङ्खों की तुमुल ध्वनि, रणभेरी के भैरव नाद, धनुषों की टंकार, हाथियों का चिंघाड़ना, घोड़ों का हिनहिनाना, रथों का घर्घरनाद, सब मिल कर आकाश को प्रलयकारी कोलाहल से गुंजा रहे हैं। पताकाएँ फहरा रही हैं, गदाधर भिड़ रहे हैं, धनुर्धरों का हस्तलाघव देखते ही बनता है। प्रथम दिवस के युद्ध में भीष्म के रण कौशल और भयानक प्रहारों से पाण्डव सेना की अत्यधिक क्षति होती है। अभिमन्यु के शस्त्र सञ्चालन की अद्भुत क्षिप्रहस्तता, भीम के पराक्रम और अर्जुन के क्रोध के उपरान्त भी कौरवों का युद्ध में पलड़ा बहुत भारी रहता है। विराट कुमार उत्तर रणाङ्गण में वीर गति पाते हैं। युधिष्ठिर को विषाद होता है। परन्तु दूसरे दिन के युद्ध से सातवें दिन तक पाण्डवों का पराक्रम दुर्योधन के लिए हतोत्साही सिद्ध होता है। वह घबरा जाता है और भीष्म पितामह को कोसता है, उन पर पाण्डव पक्षी होने का व्यंग्यारोपण सहित आक्षेप लगाता है। वह कहता है, 'पितामह! पाण्डवों के प्रति आपके मन में स्नेह है, इसलिए आप हृदय से उन्हीं की जीत चाहते हैं और आप जी लगाकर युद्ध नहीं करते।' महारथी भीष्म को दुर्योधन के वचन अच्छे नहीं लगते, वे

रोप मे कह देत है, 'दुर्योधन ! मैने तुमसे पहले ही कहा था कि पाण्डव अजेय हैं वे विपत्तियो से विचलित नहीं होते। उनमे अपार धैर्य है। फिर भी मैं तुम्हारे लिए भीषण युद्ध करता हूँ और करूगा। चिन्ता छोड दो।' —वहुशोऽसि मया राजस्तथ्यमुक्तो हित वच । अजेया पाण्डवा युद्धे देवैरपि सवा सवै (भीष्म पर्व, 58 43)।

भीष्म प्रवल वेग से पाण्डवा पर प्रहार करते हैं, सभी कारव वीर पुर-जोर रणचातुय वताते हैं, दोनो ओर सेना की अपार क्षति होती है, परन्तु युद्ध मे प्रतिदिन पाण्डवा का पक्ष उत्तरोत्तर प्रवल होता जाता है, लगता है विजय उन्ही को मिलेगी। बडे बडे योद्धा मार डाले जाते हैं। घटोत्कच के विकराल और विध्वसकारी प्रहारा से कौरव क्षति देख कर दुर्योधन एकदम घबरा जाता है। अत्यन्त सतप्त और बेचैन होकर वह कण के पास सहयोगाथ जाता है, परन्तु भीष्म के साथ विद्वेष के कारण वह युद्ध मे भाग नहीं ले रहा है। दुर्योधन कण से कहता है, 'द्रोण, भीष्म, कृप, शल्य और सौमदत्ति के होते हुए भी पाण्डवो का पराक्रम कम नही हो रहा है। उनकी गति और शक्ति वढती ही जा रही है। मैं इसका कारण समझ नही पा रहा हूँ।' (भीष्मपव, 97 4)। 'तुम युद्ध से मुह मोडे हुए हो, इसी स मेरी पाण्डवा स पराजय हो रही है —'त्वयि युद्ध विमुखे चाऽपि जितश्चास्मि हि पाण्डवै '(भीष्मपव, 97 5)। प्रत्युत्तर में कण कहता है 'भीष्म शान्तनवस्तूणमपयातु महारणात् — भीष्म यदि युद्ध से हट जाये तो मैं अकेला ही पाण्डवो को परास्त कर दूगा—

'न्यस्त हस्ते ततो भीष्मे निहतान् पश्य पाण्डवान् ।
मयैकेव रणे राजन् ससुहृद्गण वान्धवान् ॥
भीष्मपव 97.3

कण के इन वचनों को सुनते ही दुर्योधन द्रुत गति से भीष्म पितामह के पास जाता है और स प्रणाम कहता है 'पितामह, आप विश्व के सवश्रेष्ठ योद्धा हैं। आपसे देवता भी हार मानते हैं, परन्तु आप पूण मनोयोग से युद्ध प्रहार नहीं कर रहे हैं *क्योंकि* आपके हृदय मे पाण्डवों के प्रति अपार स्नेह है। यदि आप भीतर ही भीतर पाण्डवा का समथन कर रहे हैं तो आज्ञा दीजिए, मैं कण को सेनापति बना दू। अपनी सेना के सहार से मैं बेचैन हो उठा हूँ।' भीष्म स्वार्थी दुर्योधन की यह बात सुनकर दु खी होते हैं और वे उसे कहत हैं 'वत्स, तुम्हारी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है। योद्धा अन्त तक धैय से युद्ध करता है। पाण्डव सेना की भी अपार क्षति हुई है। परन्तु उनमें धैय और सहन शक्ति है जो तुम में नहीं है। तुम स्वाथ के मोह में जान ही नही पा रहे हो कि क्या कहना चाहिए और क्या नहीं—'त्व मोहान्न जानीषे वाच्यावाच्य सुयोधन'—रही कण

था। सेनापति अभिषिक्त करने की बात यह तो तुम जान ही चुके हो कि गंधर्व राज चित्ररथ और विराटनगर के आक्रमण के समय उसकी क्या गति हुई थी। यह तो प्राण रक्षार्थ भाग ही गया था तुम्हें छोड़कर। मैं यह अच्छी तरह से जानता हूँ कि वासुदेव की शक्ति अनंत है, उनमें सृष्टि के संहार करने की क्षमता है। वे सर्वेश्वर देवाधिदेव हैं—

वासुदेवोऽनन्त शक्तिः सृष्टि संहारकारक ।
सर्वेश्वरो देव देव परमात्मा सनातन ॥

भीष्मपर्व 98.15

फिर भी मैं तुम्हें कहता हूँ 'युद्धान समरे प्राणस्तवर्वे प्रियकाम्यया' कि तुम्हारी प्रिय कामना के लिए मैं रणाङ्गण में प्राण होम दूँगा। हे गान्धार! जाओ रात्रि बढ़ रही है, सुख से सो जाओ। कल मैं ऐसा भीषण युद्ध करूँगा जो पृथ्वी में अमरता प्राप्त करेगा जिसे लोग देखेंगे और देखते ही रह जायेंगे।' (भीष्म पर्व, 98, 5 से 16)

नवें दिन भीष्म भयंकर युद्ध करते हैं। असंख्य बाणों की ऐसी भीषण वर्षा करते हैं कि अर्जुन का नन्दिघोष रथ और सारी पाण्डव सेना उनसे आच्छादित हो जाती है, अर्जुन घायल हो गिर जाते हैं, कृष्ण के अंग प्रत्यंग बिंध जाते हैं, घोड़ों की गति रुक जाती है। अर्जुन की इस दुरावस्था में कौरव सेना अति उत्साह से बढ़ती हुई हजारों पाण्डव सैनिकों को यमघाट दिखा देती है। इस स्थिति वैषम्य को देख, चिंतातुर कृष्ण अपनी प्रतिज्ञा भूल कर आवेश से रथ में से कूद पड़ते हैं और टूटे रथ के एक चक्र को उठाकर भीष्म को मारने के लिए दौड़ पड़ते हैं। कृष्ण के इस रूप को देख कर आहत अर्जुन शीघ्र रथ से उठ, कूद पड़ता है और कृष्ण के पैरों से लिपट जाता है। शस्त्रधारी कृष्ण के तेजोमय दिव्य रूप को देख कर भीष्म भी भाव भक्ति के आवेश में उनकी स्तुति करने लगते हैं। सन्ध्या की इस वन्दना के साथ नवें दिवस का चिर स्मरणीय युद्ध समाप्त होता है।

सभी पाण्डव इस रात विषण्ण हैं। युधिष्ठिर मन्त्रणा करते हैं कि युद्धारम्भ के पूर्व भीष्म ने युधिष्ठिर को आशीर्वाद देते हुए कहा था कि 'मैं युद्ध तो कौरवों की ओर से ही करूँगा, परन्तु तुम अपने लिए मुझ से सलाह ले सकते हो। —मन्त्रयिष्ये तवार्थाय, न तु योत्स्ये कथञ्चन।' क्यों न फिर उन्हीं से उन पर विजय प्राप्ति का उपाय पूछ लें? कृष्ण सहित पाँचों पाण्डव भीष्म के पास सानुनय पहुँचते हैं और पूछते हैं—'कथं जयेम सर्वज्ञ?' हे सर्वज्ञ हम जय कैसे प्राप्त करें कृपया बताइये। क्योंकि आपको परास्त करना किसी के बस की बात नहीं है। कौरवों की विजय असत्य की विजय है। उससे देश में स

धम आर सत्य वा लोप हो जायेगा। (भीष्मपव, 107 61–70)। सुन कर भीष्म कहते हैं 'युधिष्ठिर तुम ठीक कहते हो। जब तक मैं जीवित हूँ, तब तक कौरव पक्ष अजेय है। परन्तु ससार का यह रहस्य देखो कि मुझे वह पक्ष ग्रहण करना पडा है, जो असत्य है। मेरे लिए यह लज्जा की बात है कि मेरी आखो के सामने सत्य की मयादा अक्षुण्ण न रहे। अत मैं अपनी मृत्यु का रहस्य बताता हू। तुम्हारे पक्ष मे द्रुपद का बेटा शिखण्डी पूव जन्म मे स्त्री है। उसने मेरे वध के लिए शिवजी की तपस्या की थी। यद्यपि उसने एक दानव के वरदान से पुरुष रूप प्राप्त कर लिया है, तथापि उसका स्त्रीत्व नही गया है। यदि उसे सामने करके अजुन मुझ पर तीर चलायेगा तो मैं अस्त्र नही चलाऊगा और मेरा गिरना अवश्यम्भावी हो जायेगा। —'अर्जुन समरे शूर पुरस्कृत्य शिखण्डिनम्' (भीष्मपव, 107 82), 'मा पातयतु बीभत्सुरय तव जयोध्रुवम्' और मेरे गिरने पर तुम्हारी जय निश्चित है, ध्रुवम् है (भीष्म-पव, 107 87)।

दसवें दिन का युद्ध इस महायुद्ध का सबसे भयकर युद्ध है। भीष्म के प्रचण्ड और असह्य आक्रमण और प्रहारो के सामने पाण्डव सेना तितर बितर हो जाती है। आज महामृत्यु महोत्सव मना रही है। ऐसी विनाशकारी विकरालता को देखकर युधिष्ठिर अत्यन्त क्षुब्ध एव अधीर हो उठते हैं। पर शीघ्र ही द्रुपद पुत्र शिखण्डी रथारूढ होकर सेना को चीरता हुआ भीष्म पितामह के सामने रणमुद्रा मे उपस्थित हो उठता है। अर्जुन इसी रथ मे पीछे बैठा है। भीष्म के शस्त्र सचालन की प्रक्रिया रुक जाती है, परन्तु अजुन के तीक्ष्णतम बाण प्रहारो से भीष्म का अग प्रत्यग एकदम छलनी हो जाता है। वे गिर पडते हैं, पर पृथ्वी पर स्पश नही होता, वे तीरो की शय्या पर पडे हैं। शेषनाग की शय्या पीडाप्रद नही, शर शय्या अतीव कष्टदायक ह, परन्तु भीष्म उस पर पडे है।

भीष्म के गिरते ही दोनो दलो म हाहाकार मच जाता है। युद्ध बन्द हो जाता है। कौरवराज और पाण्डव सभी शोक सतप्त भीष्म की शय्या के समीप चरणो की तरफ खडे हो जाते हैं। महावीर कण भी अपनी शत्रुता को भुला कर वहाँ आ जाता है। भीष्म को वह प्रणाम करता है। इस पर वे कण को आशीर्वाद देते हुए कहते हैं 'कण! तुम मुझे सदा प्रिय ही लगे हो, केवल मर्यादा पालन हेतु ही मैंने अवसर पडने पर कुछ तीक्ष्ण वचन कहे हैं। तुम वीर हो, तुम इस युद्ध को रोक सकते हो। दुर्योधन समझता है कि तुम्हारी सहायता से वह विजयी होगा, लेकिन अजुन को पराजित करना सम्भव नही है
अत शीघ्र सधि करके युद्ध को रोक दो—'सधिभवतु मा विरम'। कण यह

देते है 'पितामह ! अब सघर्ष बहुत दूर तक पहुँच गया है । मुझ राधेय को दुर्योधन ने अगराज बना कर गौरवान्वित किया है । जैसे कृष्ण अर्जुन का साथ नही छोड सकता, वैसे मैं भी दुर्योधन का साथ कभी नही छोड सकता । पाण्डव तो आपके भी पौत्र थे, आपने उनके विरुद्ध शस्त्रास्त्र क्यो उठाये ? आप भी तो कौरवो को समझा सकते थे । अब मैं आपका उपदेश कैसे मानू (भीष्म पर्व, 122 24–25) ।' यह कह कर कर्ण तो अपने शिविर की ओर चला जाता है ।

युद्ध के अगले पाँच दिन, 11 से 15 द्रोणपर्व

महाभारत के ग्यारहवें दिन युद्ध का सचालन कौरवो की ओर से द्रोणाचार्य करने लगते हैं और पाण्डवो की ओर से धृष्टद्युम्न । कर्ण भी अब युद्ध मे प्रवेश करता है ।

द्रोण व्यूह रचना के दक्ष आचार्य हैं । इन पाच दिनो मे विविध प्रकार के दुर्भेद्य व्यूहो की सरचना से युद्ध का स्वरूप ही बदल जाता है । दुर्योधन का एकमात्र लक्ष्य युधिष्ठिर को बन्दी बना कर पाण्डवो को आत्मसमर्पणार्थ विवश कर देना है । अत युधिष्ठिर को किसी प्रकार अर्जुन से दूर करना अनिवार्य है, ऐसी मन्त्रणा करके यह दायित्व त्रिगर्तों के सुशर्मा और ससप्तको को सौंपा जाता है कि वे अर्जुन को युद्ध मे आकृष्ट करके युधिष्ठिर से बहुत दूर ले जायें क्योकि अर्जुन की विद्यमानता मे कोई भी युधिष्ठिर को न घेर सकता है, न पकड सकता है ।

द्रोण के इस मन्तव्य को कृष्ण पहले से ही अनुमान से जान लेते हैं । अत उनकी दृष्टि मे युधिष्ठिर की सुरक्षा ही सर्वोपरि लक्ष्य बनता है । युद्ध की भयकरता एव दुष्करता अब घनी हो जाती है, परन्तु द्रोण के महारथी न तो ग्यारहवें दिन और न ही बारहवें दिन युधिष्ठिर को बन्दी बना पाते हैं । उलटे महाभट्ट प्राग्ज्योतिष के राजा भगदत्त अर्जुन के हाथो यमलोक पहुँचा दिये जाते हैं । अर्जुन त्रिगर्त सेना नष्ट करके लौटे, उसके पूर्व द्रोण पूर्ण वेग से युधिष्ठिर पर आक्रमण कर देते हैं । युधिष्ठिर के अगरक्षक सत्यजित अचूक शर प्रहार से द्रोण के रथ के पहिये काट देता है, घोडे मार गिराता है और द्रोण का आक्रमण विफल हो जाता है । आक्रोश मे द्रोणाचार्य अर्द्धचन्द्र बाण से सत्यजित को मार गिराते हैं । उसी क्षण अर्जुन लौट आता है और बारहवें दिन का युद्ध भी समाप्त हो जाता है ।

तेरहवें दिन द्रोण छ महारथियो सहित एव अभेद्य व्यूह की रचना करते हैं जिस समय ससप्तकों को खदेडते हुए अर्जुन बहुत दूर निकल कर शत्रुसेना द्वारा चारो ओर से घिर गया होता है । अर्जुन पुत्र अभिमन्यु ही एकमात्र ऐसा बाल

वीर है जो चक्रव्यूह भेदन तो करना जानता है, परन्तु उसमे से वापस सुरक्षित लौट आना उसे नही आता। अभिमन्यु व्यूह मे प्रवेश करता है, सभी छ द्वारो को भेद कर क्रमश जयद्रथ, द्रोण कर्ण, अश्वत्थामा, दु शासन दुर्योधन पुत्र लक्ष्मण को पराजित कर वह व्यूह के सप्तम द्वार पर जा पहुँचा है। वहाँ साता महारथी एक साथ मिल कर धर्मयुद्ध विरोधी नीति को अपना कर अन्याय और छल से अभिमन्यु को घोर युद्ध करते हुए मार गिराते हैं। बस यही से महाभारत का युद्ध धर्म के आधार को छोड कर छल छद्म और स्वार्थ की विजय का अनिवार्य तत्त्व स्वीकार करके आगे बढता है।

द्रोण के सेनापतित्व मे इस महायुद्ध का चरित्र परिवर्तन आगे होने वाली समस्त सामरिक घटनाओ का निकष बन जाता है।

द्रोण वध की घटना को ही लीजिये। महाभारत मे द्रोणवध के समग्र अध्ययन से द्रोण-वध के औचित्य की कसौटी प्रकट होती है। द्रोण के कौरव सेनाध्यक्ष बनते ही पाण्डवो की सेना के अध्यक्ष पद पर धृष्टद्युम्न नियुक्त किया जाता है क्योकि द्रोणाचार्य राजा द्रुपद के द्वेषी हैं और द्रोण वध हेतु ही सकाम यज्ञ द्वारा द्रुपद ने साक्षात् अग्नि देव से वरदान के रूप म, अग्नि से ही उत्पन्न, धृष्टद्युम्न नामक पुत्र का प्राप्त किया है। यह तथ्य द्रोण को विदित है। अत धृष्टद्युम्न को अपने सामने पाण्डव सेनाध्यक्ष के रूप मे देखते ही द्रोण भीति और आक्रोश से घिर जात हैं। भीति इसलिए कि धृष्टद्युम्न उनके लिए मृत्यु रूप बन कर खडा हुआ है, आक्रोश इसलिए कि उन्हे अब पुरजोर से पाण्डव सेना का शीघ्र सहार करना है। अत द्रोण घोरतम कर्म और भयकर युद्ध का क्रम उपस्थित करते हैं। अभिमन्यु के निर्मम और छलपूर्ण वध मे सब महारथी सम्मिलित थे, द्रोण भी, परन्तु जयद्रथ इनमे सबसे आगे और प्रधान हत्यारा था। चौदहवें दिन जब अर्जुन की प्रतिज्ञा और भीषण पराक्रम द्वारा द्रोणाचार्य की विकट व्यूह रचना के उपरान्त भी, जयद्रथ मार डाला जाता है तब दुर्योधन के कटाक्ष द्रोण के लिए असह्य हो जाते हैं। फलस्वरूप, द्रोण अत्यन्त विकराल रूप प्रकट करते ह, युद्ध तरह दिव्य अस्त्र शस्त्रो का प्रयोग करते है जिनका प्रयोग मानव वीरो पर करना सर्वथा निषिद्ध है। आज भी न्यूक्लियर बाम्ब के परीक्षण व प्रयोग पर मात्र इसलिए प्रतिबन्ध लगाने के अन्तर्राष्ट्रीय सुझाव प्रस्तुत और स्वीकृत होते जा रह ह कि इनका किसी भी आक्रोश व प्रोत्तेजना जन्य परिस्थिति मे प्रयोग महामानवता के अचिन्त्य एव घोर महा विनाश का कारण बन सकता है। परन्तु द्रोण के भ्रान्त एव क्रोधाक्रान्त चित्त मानव हित और मानवीयता की रक्षा का भाव स्रोत एकदम जल सा जाता है, और व न्यायाम्त्रा का नृशस एव विवेकहीन प्रयोग करना आरम्भ करते हैं जिससे

एक ही दिन के प्रथम दो प्रहरो मे लगभग एक अक्षौहिणी पाण्डव सेना का नाश हो जाता है। आकाश मे अनेक पूववर्त्ती ऋषि मुनि प्रकट हो जाते हैं और द्रोण के द्वारा दिव्यास्त्रो के अमानवोचित एव निषिद्ध प्रयोग की भर्त्सना करते हैं—विश्वामित्र, जमदग्नि, भरद्वाज, गौतम, वसिष्ठ, कश्यप आदि ऋषिगण ब्रह्मास्त्र एव दिव्यास्त्र के अन्धाधुन्ध प्रयोग के लिए द्रोण को कहते हैं कि 'तुमने इस प्रकार अधर्म युद्ध को गति दी है, हजारो इन्सान, जिनके पास न तो ब्रह्मास्त्र एव दिव्यास्त्र है और न ही चलाना आता है, तत्कारण मौत के घाट उतर चुके हैं, इस प्रकार का आक्रोशजन्य भीषण नर-सहार तुम्हारे जैसे ब्राह्मण आचार्य के लिए बिल्कुल ही उचित व शोभनीय नही है ।

त एनमब्रुवन् सर्वे द्रोणम्वाह न शोभिनम् ।
अधमत कृत युद्ध समयो निधनस्य ते ।। द्रो प 190 35
तव एतद् न उपपद्यते ।। द्रो प 190 37

पर द्रोण ऋषियो के वचनो की अवहेलना कर देते हैं और दिव्यास्त्रा के प्रयोग को और अधिक उग्र, आतङ्ककारी तथा विध्वसकारी बना देते हैं। इसी प्रक्रिया मे अजुन भी बहु कर दिव्यास्त्रो का भीषण प्रयोग कर सकता था, परन्तु उसे अपने न्यायपथ से विचलित होना स्वीकार्य नही होता । उसके भारी पराक्रम और भीम के रण कौशल से अवन्तिराज की सेना विनष्ट हो जाती है, अवन्तिराज का 'अश्वत्थामा' नाम का दिग्गज हाथी मार डाला गया है और आचार्य द्रोण के कानो मे इतनी ही सूचना आई है 'अश्वत्थामा मार डाला गया है।' द्रोण का सारा मोह व जीवन अपने पुत्र अश्वत्थामा पर ही केन्द्रित है। अत इस सूचना से द्रोण एकदम हतोत्साहित और उदास हो उठता है । वह युधिष्ठिर की सत्यप्रियता से पूर्णतया आश्वस्त है । अत द्रोण युधिष्ठिर को पूछते हैं कि अश्वत्थामा क्या सचमुच मर गया है ?

यह है प्रसग जब कृष्ण के प्रबल अनुरोध पर युधिष्ठिर जोर से कह उठते है 'अश्वत्थामा हतो' पर साथ ही मन्दोच्चार कर देते हैं 'नरो या कुञ्जरो वा' —पिछले शब्द द्रोण सुन नहीं पाते, वे आत्मग्लानि से भर जाते हैं, पुत्रमरण की असह्य व्यथा से मोहाक्रान्त होकर वे मन को सहसा समाहित कर लेते हैं, और पद्मासन पर बैठकर रथ मे ही समाधिस्थ हो जाते हैं। धृष्टद्युम्न उसी क्षण तीक्ष्ण तलवार से द्रोणाचार्य का मस्तक उडा देते हैं। इस प्रकार द्रोणाचार्य का वध और युधिष्ठिर का असत्य भाषण साहित्यकारो की कटुतम आलोचना का विषय बना है ।

विष याहिनी कटुतम आलोचना के इस प्रसग म श्रीकृष्ण के ये शब्द मननीय हैं द्रोण द्वारा दिव्य एव ब्रह्मास्त्रा के जघन्य अमानुषीय और भयग

जय घोर विध्वसक एव नर-सहारी प्रयोग से उत्पन्न इस विषमावस्था मे, असख्य वीरो और मनुष्यो की जीवन रक्षा के लिए, 'असत्य भाषण सत्यवचन की प्रतिज्ञा-बद्धता से कही ज्यादा श्रेयस्कर है'—'सत्याद् ज्याय अनृतवच । अनृत जीवितस्यार्थे वदन् स्पृश्येऽनृते' (द्रोण-पर्व, 190 47)— ऐसी कठोर घडी मे बोला गया अनत (असत्य) वचन पापाजन से स्पृष्ट नही होता। मानव जीवन की रक्षा से बडा कोई धर्म नही हो सकता और यदि असत्य द्वारा एक मनुष्य के मरण से हजारो लाखो मनुष्यो को जीवन-दान मिलता हो, तो युधिष्ठिर द्वारा उस निकट विनाश की भयावह विभीषिका मे बोला हुआ झठ जीवन सत्य की पावनतम अर्चना ही है। लक्ष-लक्ष मनुष्यो के जीवन सरक्षण के लिए— विशेषकर जब वे समस्त वीर धर्म का पक्ष लेकर युद्धरत हैं तथा जिनकी रक्षा और सम्भावित जीत से सुदर और श्रेष्ठ मानव जीवन के मूल्यो की प्रतिष्ठा व वृद्धि होगी—एक द्रोण का असत से वध सर्वथा वैसे ही उचित है जैसे पूरे शरीर की रक्षा के लिए, आवश्यकता पडने पर, एक फेफडे या किडनी को भी काट देना जीवनपरक और उचित होता है।

कर्णपर्व युद्ध का 16 वा और 17 वा दिन

महारथी द्रोणाचाय और जयद्रथ के मर जाने के पश्चात् दुर्योधन अग राज महावीर कर्ण का सेनाध्यक्ष पद पर अभिषेक करते हैं। अब अर्जुन और कर्ण के मध्य सीधा युद्ध होता है। सोलहवें दिन भयकर युद्ध होता है पर उस दिन अर्जुन प्रबल वेग से ससप्तको का सहार करते हैं, दुर्योधन और अन्य कौरव वीर भाग खडे होते हैं, कर्ण की मुठभेड नकुल से होती है, घमासान युद्ध के पश्चात् नकुल घायल हो जाता है, कर्ण उसका वध मात्र इसलिए नही करता कि उसने कुन्ती को वचन दिया था कि पाच पाण्डव अवश्य जीवित रहेंगे— अर्जुन सहित या कर्ण सहित! सोलहवें दिन के युद्ध के पश्चात् कर्ण के कहने पर महाराजा शल्य उसके रथ के सारथि बनते है, क्योंकि शल्य कृष्ण समान रथ सचालन विद्या म अत्यन्त कुशल एव पटु होते हैं। कर्ण ने पहले भारी परा क्रम दिखाया ह, पर आज सत्रहवें दिन स्वय अर्जुन उसके सामने युद्धरत है। पहले युद्ध भीम से होता है। भयकर पराक्रम से भीम कौरव सेना का ही नाश नही करता, अपितु अपने तीव्रगामी एव प्रबल बाण प्रक्षेपण से कर्ण को मूर्च्छित कर देता है। शल्य कर्ण को मूर्च्छा मे देखकर रथ को भगा ले जाते हैं। कर्ण का रथ अदृश्य होते ही भीम कौरवो पर टूट पडता है। दुर्योधन दु शासन को भीम के वेग को रोकने के लिए भेजता है। भीम इसी क्षण के लिए आतुर है, द्रौपदी के घोर अपमान का बदला लेने का समय आ गया है। भीम अपनी गदा सम्हालता है और दु शासन के साथ गदायुद्ध शुरू हो जाता है। प्रथम अवसर

मे ही भीम के भीषण गदाघात से दु शासन अचेत हो गिर पडता है, भीम उसके हाथ एक ही झटके से उखाड लेता है, और उसकी छाती फाड कर रक्त पीना आरम्भ कर देता है। इस तरह भीम अपनी प्रथम प्रतिज्ञा पूरी करता है जो उसने घृतराष्ट्र की द्यूत सभा मे दु शासन द्वारा द्रौपदी को निवस्त्र करने के दु सह्य अपमान के समय की थी। भीम की विकराल मूर्ति को देख कर कौरव सेना भाग खडी होती है।

उधर कण की मूर्च्छा टूटती है और उसे दु शासन की मत्यु का समाचार मिलता है। अभी दिन बहुत शेष है, अत कण पुन रथासीन होकर युद्धाथ आता है, युधिष्ठिर से मुठभेड होती ह, कण के भीषण और अपमानजनक प्रहार से क्षुब्ध और घायल युधिष्ठिर को उनका सारथि रणभूमि से ले भागता है। उधर अर्जुन ससप्तको की सेना का सहार करते हुए लौट आने पर, युधिष्ठिर के रथ को युद्ध क्षेत्र मे न देखकर, वह उनके शिविर मे जाता है। दोनो भाइयो मे परस्पर झडप हो जाती है, अर्जुन अपने गाण्डीव धनुष का अप मान नही सह सकता और युधिष्ठिर कण के आघातो से पीडित शय्या पर पडे अर्जुन और उसके धनुष को धिक्कारने मे कोई कसर नही उठा रखते। अ त तोगत्वा, कृष्ण के बीचबचाव से अजुन स्वज्येष्ठभ्राता से क्षमायाचना करते हुए कण के साथ युद्ध करने चल पडता है।

घमासान युद्ध होता है, दोनो भिन्न भिन्न अस्त्रो का प्रयोग करते है, दोनो महाधनुर्धारी है, महाविनाश का ताण्डव नत्य होन लगता है। कण क्रोधावेश मे 'आग्नेय' अस्त्र फेंकते हैं जिससे पाण्डव सेना अग्नि वर्षा से जलन व भस्म होने लगती है, तुरत ही अर्जुन 'वरुण' अस्त्र छोडते हैं जिससे मेघो का शीघ्र निर्माण और जल वषण होन से अग्नि शात हो जाती है। कण का आक्रोश बढने लगता है और वह 'वायव्य' अस्त्र का प्रयोग करता है, जिससे मेघ छिन्न विछिन्न हो जाते हैं और आकाश मे आधी छाने लगती है, अर्जुन के 'नागास्त्र' द्वारा कौरव सेना भयाक्रा त भाग होती है। कर्ण 'गरुडास्त्र' द्वारा नागास्त्र के प्रभाव को समाप्त करके पाण्डव सेना को अतुल क्षति पहुँचाने लगता है। अर्जुन के पास 'नारायणास्त्र' है जिसके प्रयोग से कण और कौरवो की सेना का तत्काल नाश हो सकता है, परतु इस दिव्य अस्त्र का प्रयोग मनुष्य युद्ध मे वर्जित है। द्रोण ने दिव्यास्त्रों के प्रयोग से पाण्डवो की एक ही प्रहर में एक अक्षौहिणी सेना को नष्ट भ्रष्ट कर दिया था, परतु अर्जुन इस दिव्यास्त्र के विनाशकारी प्रयोग के लाभ का सवरण करके अपन मानवीय जीवन दृष्टि का परिचय देता है। वह कण को मानवी युद्ध से ही जीतना चाहता है। अन अवसरोचित धैर्य के साथ वह अचिन्त्य कौशल, हस्तलाघव और तीव्रगति स तीक्ष्ण बाण वर्षा द्वारा

कर्ण और उसके साथियों को विचलित कर देता है। हतोत्साह से विवश कर्ण पुनः दिव्यास्त्र का प्रयोग सीधा अर्जुन पर करता है, परन्तु बाण छूटते ही कृष्ण नंदिघोष के घोड़ों को एक दम नीचे झुका लेते हैं और वह दिव्यास्त्र रथ के ऊपर से अर्जुन के मुकुट को छूता हुआ निकल जाता है। अर्जुन का गाम्भीर्य और धैर्य इस समय दर्शनीय होता है। वह बच जाता है और तुरन्त कर्ण पर अविचल गति से शरानुसन्धान द्वारा प्रखर प्रहार कर उठता है। कर्ण के पाँव उखड़ने लगते हैं, धैर्य टूटता जाता है, और अधीरता के क्षणों में वह परशुराम से सीखी हुई शस्त्र विद्या भूलने लगता है। अर्जुन का और प्रहार होता है और हड़बड़ाहट में कर्ण के रथ का पहिया युद्ध भूमि में रक्तकीच से फिसलकर धँस जाता है। और कर्ण उच्च स्वर में अर्जुन को सम्बोधित करके कहता है

> मो मा पार्थ महेष्वास मुहूर्तं परिपालय।
> यावच्चक्रमिदं ग्रस्तमुद्धरामि महीतलात् ॥
>
> कर्णपर्व 90 108

हे महेष्वास, पार्थ ! दो घड़ी रुको। तब तक मैं इस फँसे हुए रथ चक्र याने पहिये को पृथ्वीतल से निकाल लूँ। 'तुम तो धर्म युद्ध की मर्यादा से परिचित हो, वेदान्त का स्वाध्याय रूपी यज्ञ करके तुम उसमें अवभृथस्नान कर चुके हो—*'अभिज्ञो युद्धधर्माणां वेदान्तावभृथाप्लुतः'* (कर्णपर्व, 90 114)। अतः जब तक मैं पहिये को धरती से मुक्त कर लूँ तब तक प्रतीक्षा करो।

धर्म की दुहाई देने वाले कर्ण को सम्बोधित करते हुए तत्क्षण कृष्ण बोल पड़ते हैं 'क्व ते धर्मस्तदा गतः ?'—अरे कर्ण ! उस वक्त तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था जब तुमने तथा दुर्योधन, दुःशासन और सुबलपुत्र शकुनि ने एक वस्त्रा और रजस्वला द्रौपदी को बलात् सभा में बुलवाया था, जब कौरव सभा जूए के खेल का ज्ञान न रखने वाले राजा युधिष्ठिर को शकुनि ने जान बूझकर छल-पूर्वक हराया था, जब बनवास का तेरहवाँ वर्ष बीत जाने पर भी तुमने पाण्डवों का राज्य उन्हें वापस नहीं दिया था, जब राजा दुर्योधन ने तुम्हारी ही सलाह लेकर भीमसेन को जहर मिलाया हुआ अन्न खिलाया और गंगा के भीषण प्रवाह में हत्यार्थ फेंक दिया था, जब भरी सभा में दुःशासन द्वारा क्लेशाक्रान्त द्रौपदी को निर्लज्जता से नंगा करते हुए अपमान और उपहास की दृष्टि से तुमने उसे देखा था, जब तुमने युद्ध में बहुत से महारथियों से मिलकर अधर्म से चक्रव्यूह भेदन कर देने वाले अर्जुन पुत्र वीर अभिमन्यु की निर्मम हत्या की थी (कर्णपर्व, 91 2 12)—उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ गया था ? —'क्व ते धर्मस्तदा गतः ?'

कृष्ण के व्यंग्यपूर्ण सत्य वचन सुनते ही कर्ण का सिर लज्जा से झुक जाता

है और वह सवथा निरुत्तर हो जाता है—'लज्जयावनता भूत्वा नासर त्रिञ्चि दुरुत्तरात्'। उसी क्षण कृष्ण अर्जुन को कण पर शराघात हेतु उत्प्रेरित करते है और दोना धनुधरो म घोर युद्ध होता है। अन्ततोगत्वा अञ्जलिक नामक बाण से अजुन कण का शिरोच्छेदन कर देता है। धरती पर गिरते गिरते कण की देह से एक तेज निकल कर आकाश म फैल जाता है और ऊपर उठकर सूय मण्डल मे, सब के देखते देखते, विलीन हो जाता है।

कर्ण का मर गिरना दुर्योधन के आश्वासन-स्तम्भ का टूट गिरना है। पाण्डवो का सबस बडा भाई और कुन्ती का प्रथम पुत्र होने पर भी वह सूतपुत्र और राधानन्दन की सज्ञा से मण्डित रहकर मरना ही कर्ण को श्रेयस्कर लगता है। कृतघ्नता का मार्त्तण्ड अस्ताचल मे लुढक जाता है। दुर्योधन की आत्म सजीवनी विनष्ट हो जाती है। कुन्ती की जीवन-लता प्रथम कौन्तेय के मर जाने की सूचना मात्र से पश्चाताप की अग्नि मे सूख सूख जाती है और पाण्डवो को, अन्त्येष्टि कम करने के समय पर, तपण द्वारा कण के लिए जलदान का आदेश देती हैं। यही कण की कारुणिक कथा का अभिषेक होता है।

शल्य और सौप्तिक पव महाभारत युद्ध का अन्तिम दिवस

कण के गिरते ही दुर्योधन शोक सागर मे डूब जाता है, हिम्मत हार जाता है परन्तु राज्य का लोभ उसके हृदय म अभी भी प्रबल है। कृपाचाय उसे सन्धि द्वारा युद्ध रोकने के लिए सुझाव देते हैं और कहते हैं कि ग्यारह अक्षौहिणी सेना मे बहुत थोडी सेना जीवित बची है, उसके (दुर्योधन के) सभी भाई मार डाले गये ह सभी महारथी भी काल कवलित हो गये हैं। परन्तु दुर्योधन को सन्धि स्वीकाय नही होती, वह कह उठता है—अभी आप ह, अश्वत्थामा है, कृतवर्मा है, मामा शल्य है, मैं स्वय हूँ। मैं चाहता हूँ कि कल से महारथी मद्रराज मामा शल्य हमारे सेनापति बनें।

शल्य के सेनापतित्व मे अठारहवे दिन का महाभारतीय युद्ध शुरू होता ह। महारथी शल्य से युद्ध करन स्वय धमराज युधिष्ठिर आते हैं, अजुन ससप्तकों के साथ और भीम कृपाचाय से मोर्चा लेते ह। शल्य की सहायताथ अश्वत्थामा सवथा तत्पर है, युधिष्ठिर के साथ धृष्टद्युम्न, सात्यकि आदि रहते हैं। भयकर युद्ध होता है दानो ओर से। अन्ततोगत्वा युधिष्ठिर के द्वारा एक घातक शक्ति के प्रयोग द्वारा महारथी शल्य युद्ध मे मार दिये जाते ह। पाण्डव जय-यात्रा म उत्तरोत्तर आगे बढते जाते हैं।

कौरव सेना भागने लगती है। उसी समय स्वय दुर्योधन के आते ही भागती हुई से लौट पडती है। उधर सहदेव खूब पराक्रम दिखाता है और अपनी प्रतिज्ञानुसार शकुनि के पुत्र 'उलूक' और शकुनि को मार गिराता है, और

इधर दुर्योधन अपनी सारी सेना के संहार का देख कर भयभीत हो जाता है, भाग कर दूर सरोवर मे एक वृत्त् स्तम्भ के पीछे छिपने हेतु शरण लेता है। भीम पीछे पीछे आता है। बिना दुर्योधन को जीते व मारे पाण्डवो की जय यात्रा पूरी नही हो सकती।

बलराम वहाँ आ पहुचते हैं कृष्ण भी। मल्लयुद्ध होता है। भीम नियम-विरुद्ध दुर्योधन की जाघ पर गदाघात कर देता है। फलत दुर्योधन की जाघ टूट जाती है। भीम उसके मस्तक पर प्रहार करता है। बलराम भीम पर क्रोध करते हैं, क्योकि उसने दुर्योधन की जाघ पर प्रहार करके धर्मनीति का उल्लघन किया है। 'बवतस्य धर्मस्तदा गत' यह कर कृष्ण उन्हे समझाते है। द्रौपदी के चीरहरण के समय दुर्योधन ने अपनी जाघ उघाड कर दिखाई थी और भीम ने प्रतिज्ञा की थी कि युद्ध मे जांघ पर प्रहार द्वारा ही दुर्योधन का वध करेगा। कृष्ण के इस बीच बचाव से बलराम चले जाते हैं। भीम, कृष्ण आदि सभी पाण्डव भी वहाँ से चले जाते हैं। दुर्योधन मरणासन्न रण भूमि म पडे हैं, अश्वत्थामा आता है और प्रतिज्ञा करता है कि वह येनकेन प्रकारेण पाण्डवो का निश्चय ही वध कर डालेगा। सूर्यास्त हो चुका है, युद्ध बन्द है।

अश्वत्थामा की प्रतिज्ञा से प्रोत्साहित होकर दुर्योधन उसे शीघ्र नया सेनापति घोषित कर देता है। प्रतिशोध की अग्नि मे धधकता हुआ अश्वत्थामा, कृपाचार्य और कृतवर्मा रात्रि समय पाण्डवो के शिविर के पास एक वृक्ष तले पाँचो पाण्डवो के वध का उपाय सोचने लगते हैं। उसी समय वह देखता है कि उल्लू सा एक पक्षी आया और पेड पर नीद मे सोये कौओ को खटाक से एक एक कर मार डालता है। उपाय समझ मे आ जाता है, तीनो पाञ्चालो के शिविर मे चुपके-से प्रवेश करते है पलग पर गहरी निद्रा मे सुप्त धृष्टद्युम्न की निर्मम हत्या करके अश्वत्थामा अपने पिता द्रोण का बदला लेता है। फिर शीघ्र वहाँ से वह पाण्डवो के शिविर मे घुस जाता है और वहाँ सोते हुए पाँच पाण्डव वीरो को मार कर उनके कटे पाँचो मस्तको को हाथ मे लेकर वह खुशी मे उछलता हुआ दुर्योधन के पास पहुँचता है। पाण्डवो के वध का समाचार स मतप्राय दुर्योधन के नेत्रो मे ज्योति जगमगा उठती है। वह भीम का मस्तक मागता है, देखने पर लगता ह कि वे पाँचो मस्तक द्रौपदी के पाँचो पुत्रो के हैं न कि पाँचो पाण्डवो के। क्षोभ और ग्लानि से दुर्योधन का प्राणान्त हो जाता है।

दुर्योधन के देहावसान के साथ ही महाभारत का युद्ध समाप्त हो जाता है। कौरवो के सर्वनाश और पतन के साथ ही पाण्डवो की जय तो प्रतिष्ठित हो जाती है, परन्तु पाण्डवो की जय यात्रा अभी पूर्णतया सम्पन्न नही होती।

अश्वत्थामा के प्रति भीम का आक्रोश समारोहण करने लगा है, और वह

उसे खोजने निकल पडता है। श्रीकृष्ण की चिन्ता बढ जाती है क्योंकि अश्वत्थामा स्वात्म रक्षण की ओट मे उस 'ब्रह्मशिरा' महास्त्र के प्रयोग म तनिक भी धर्माधर्म का सोच व सकोच नही करेगा जिससे भीम अवश्य ही काल कवलित हो सकता है। अत युधिष्ठिर और अर्जुन को साथ लेकर, रथारुढ हो, अत्यन्त तीव्र गति से वे भीम के पीछे उड पडते ह। जो कुछ बाद म होता है उसम अश्वत्थामा के अविवेकपूण 'ब्रह्मशिरास्त्र' के प्रयोग के फलस्वरुप अजुन को अपने ब्रह्मास्त्र का निश्छल प्रयोग करना पडता है। वद यास सवनाश से शेष सभी की रक्षा करने की कालोचित एव धममय मानवीय दृष्टि से बीच बचाव करते ह। अश्वत्थामा को अपने प्राणो की रक्षा हेतु स्व मस्तक म जडित उस *'मणि' को पाण्डवो के प्रति समर्पित करना पडता ह जो उसकी सारी शक्ति* तेज और अजेयता का दिव्य स्रोत हाती है। मणि देते ही वह अत्यन्त निबल, निस्तेज और निरुत्साही हो जाता है। महा-मनस्वी व्यास के आश्रम का अन्तेवासिन बन कर एक तपस्वी का जीवन यापन ही अश्वत्थामा का अब भाग्य बन जाता है।

इस प्रकार महाभारत के भीषण समर की इति श्री के साथ ही मानव की महाकाव्यान्तगत वर्णित जय यात्रा का प्रथम सोपान समाप्त हो जाता है।

मानव की जय यात्रा का चरम सोपान

मानव की जय यात्रा के द्वितीय एव चरम सोपान का सम्यक एव समग्र दशन 'महाभारत' के 'स्वर्गारोहण' सनक अन्तिम पव म होता है जिसम प्रवेश 'महाप्रास्थानिक' नामक सत्रहवें पव रूपी द्वार से करना पडता है।

कुरुक्षेत्र मे युद्ध के पश्चात् धतराष्ट्र और गान्धारी पन्द्रह वर्षों तक हस्तिनापुर म जनक राजा की तरह वीतराग होकर रहत है और फिर वे दोनो विदुर और कुन्ती सहित वन म तपस्याथ प्रस्थान कर जाते है जहा उनकी जीवन लीला समाप्त हो जाती है। युधिष्ठिर, वेद यास और कृष्ण की मन्त्रणा से, अश्वमध यज्ञ द्वारा भारत म धम, याय और मानवता का एक छत्र राज्य स्थापित करते ह। श्रीकृष्ण भी तदनन्तर द्वारिका म जाकर यादवो मे, गान्धारी शापानुसार, सवस्वनाश की लीला दख कर प्रभासतीथ म विचार मग्न विराम करते हैं। वहाँ एक दिन 'जरा नामक व्याध द्वारा हरिण के भ्रम म चलाये गये तीर से कृष्ण का पद तल आहत हो जाता ह और वे अगाध शान्त भाव से व्याध को आश्वस्त करते हुए दुर्वासा ऋषि के शापानुकूल, समाधिस्थ हो जाते है। उनकी जीवन लीला समाप्त होने की सूचना स युधिष्ठिर समेत सभी पाण्डव अभिमन्यु पुत्र परीक्षित को सम्राट के पद पर अभिषिक्त करके, अपने आत्म साम्राज्य म प्रवेशाथ द्वारिका की तीर्थयात्रा करत हुए हिमालय की ओर

प्रस्थान करते है। जागतिक जीवन की जय-यात्रा पूरी हो चुकी है, आध्यात्मिक जीवन की जय यात्रा मे युधिष्ठिर के साथ एक स्वामिभक्त श्वान भी है। यात्रा अत्यन्त दुष्कर है, कठिन और लम्बी। ज्यो ज्यो हिमालय मे वे आगे बढते जाते हैं, त्यो-त्यो हिमपात भी भीषण होता जाता है। हिमपात के बाधक्य से यात्रा दुगम और अधिक दुष्कर हो जाती है। गति मे शिथिलता बल पकड लेती है, और माग मे अनेक अवरोध आने लगते हैं। आरोहण के काठिन्य को सहन न कर सकने के कारण द्रौपदी गिर पडती है, उसके प्राण पखेरू उड जाते ह। भीम युधिष्ठिर को पूछते हैं कि प्रभावती, पतिव्रता, सेवापरायण और कृष्णप्रिया द्रौपदी किस दोष के कारण माग म ही गिर कर मर गई है। 'पक्षपातो महा नस्या विशेषेण धनञ्जये' अथात् उसके मन मे अजुन के प्रति अपेक्षाकृत अधिक भुकाव या पक्षपात पूर्ण व्यवहार था, 'तेन दोषेण सा पतिता', इस दोष के कारण वह गिर कर मर गई है। ऐसा युधिष्ठिर उत्तर मे कहते ह। सब आगे बढते रहते हैं। परन्तु माग की उत्तरोत्तर दुगमता एव अपन अपने दोषो के कारण रास्ते मे चलते चलते क्रमश सहदेव, नकुल, अर्जुन और भीम भी गिरते जाते हैं और उनका उसी क्रम मे देहावसान होता जाता है। हरेक के गिरन व मरने पर भीम युधिष्ठिर को वही प्रश्न दोहराते हैं—'केन दोषेण स पतित ?' और उसके प्रत्युत्तर मे युधिष्ठिर हरेक के उस दोष का उल्लेख करते हैं जिससे उसका पतन व मरण माग म ही होता है। सहदेव के गिरने का कारण यह है कि वह 'आत्मन सदृश प्राज्ञ नैषोऽमन्यत कञ्चन' दोष से ग्रसित है, वह अपने समान प्रज्ञावत अन्य किसी को नही मानता है। नकुल के मन प्रदेश मे यह बात जम गई है कि उसके रूप सौन्दय के सदृश अन्य कोई नहीं है —'रूपेण मत्समो नास्ति इत्यस्य मनसि स्थितम्।' अर्जुन एक मात्र मिथ्या भाषण की पुनरावृत्ति के दोष से गिरता है, उसने दोहराया है कि वह 'एक ही दिन मे समस्त शत्रुओ को भस्म कर देगा' और वह ऐसा कभी कर नही सका—'एकाह्ना निर्दहेय व शत्रून् इत्यर्जुनोऽब्रवीत्।' स्वय भीम के लिए युधिष्ठिर कहते हैं कि तुम 'अति भुक्त', अतिभोजी ही नही, अपितु अपने शौय की आत्म प्रशसा के दोष से गिरे हो। ये सभी दोष अहकार के ही मृदु किन्तु भिन्न रूप है, इन पच-दोषो मे पक्षपातपूणता सबसे बडा दोष है, फिर प्रज्ञाजन्य दप, रूप-दर्प, मिथ्या भाषण म अत्यल्पमेव रति, अतिभोजी व बलवान् होन का आत्म गौरव उत्तरोत्तर न्यूनता वाले दोष होने पर भी पतनकारक हैं।

युधिष्ठिर इन समस्त दोषो से विनिर्मुक्त हैं और आनृशस्य भाव म पूर्णतया प्रतिष्ठित होने के कारण अपनी जीवनजयी यात्रा स देह पूण कर लेते हैं। हिमालय के उत्तुग एव परम पावन शिखर पर देवराज इन्द्र एव दिव्य और

ज्योतिमय रथ लेकर उपस्थित होते हैं और युधिष्ठिर को स देह स्वग म चलने हेतु रथासीन होने का निवेदन करते हैं। युधिष्ठिर कह उठते हैं कि बिना भाइयों को साथ लिए वे स्वग की कामना ही नहीं कर सकते— 'न बिना भ्रातृभि स्वगमिच्छे' (17 3 3)। इन्द्र के यह बतलाने पर कि द्रौपदी सहित सभी पाण्डव पहले से ही स्वर्ग म पहुँच चुके हैं, युधिष्ठिर अपने साथ बिना गिरे यात्रा सम्पन्न करने वाले श्वान को रथासीन होने देने की देवेन्द्र से सानुनय विनय करते हैं कि 'हे भूत और भविष्य के स्वामी यह श्वान सदा मेरे साथ पूण विश्वास और भक्ति सहित रहा और यहा तक आया है, मेरी ऐसी मान्यता है कि मेरी आनृशस्यावृत्ति के अनुकूल यह कुत्ता भी मेरे साथ रथासीन हाकर स्वग मे प्रवेश करे।

अयश्वा भूत भव्येश, भक्तो मा नित्यमेव ह।
स गच्छेत मया साधमानृशस्या हि मे मति ॥
महाप्रस्थानिकपव 3 7

देवेन्द्र के मना करने पर युधिष्ठिर स्पष्ट कहते हैं कि शरणागत एव भक्त का मार्ग मध्य त्याग कर देना 'महापाप' कहा गया है— 'भक्त त्याग प्राहुरत्यन्त पापम्', इतना ही नहीं, भक्त को बीच मे लटका देना लोकदृष्टि मे वस्तुत ब्रह्महत्या' तुल्य माना गया है— 'तुल्य लोके ब्रह्मवध्या कृतेन' (तदेव, 17 3 11)।

युधिष्ठिर द्वारा प्रस्तुत इस प्रकार की विनयशीलयुक्त आनृशस्य वाणी को सुनते ही देवेन्द्र प्रसन्न हो उठतेहैं और उन्हे कहते हैं कि हे, युधिष्ठिर! भरतश्रेष्ठ! तुम अपनी इसी शुद्ध सात्विकता के कारण दिव्य एव अति उत्तम गति को प्राप्त हुए हो— 'प्राप्तोऽसि भरतश्रेष्ठ दिव्या गतिमनुत्तमाम्।' इन शब्दो के साथ देवराज इन्द्र युधिष्ठिर को रथारूढ होने के लिए कहते हैं, और वह श्वान, जो छद्मवेश मे साक्षात् धम ही हैं अपने असली रूप म प्रकट होकर युधिष्ठिर को साधुवाद देते हैं।

अब युधिष्ठिर देवराज के साथ स्वर्गारोहण करते हैं। वहाँ उन्ह समस्त कौरवो के तो दशन होते ह, परन्तु अपने पाण्डव भ्राताओ आदि के दशन नही होते। आश्चर्यान्वित भाव से वे इन्द्र को निवेदन करते ह कि जहाँ कही शुभ अथवा पापमय स्थान मे उनके सभी भाई ह, उन्हें वहाँ ही ले जाया जाये, उन्हें अन्य कोई कामना नही है—

शुभ यदि वा पाप भ्रातृणा स्थानमद्य मे।
तदेव प्राप्तुमिच्छामि लोकानन्यान्नकामये॥
तत्र 17.9 31

इन्द्र उन्हें कहते हैं कि 'क्या अभी तक तुम्हारा मानुषी भाव समाप्त नहीं हुआ है—'अद्यापि मानुषो भाव स्पृशते त्वा नराधिप' (तदेव, 17 3 35)? अरे, यह तो स्वर्ग है, यहा पर अब ऋषियो, स तजनो और महासिद्धो आदि का दर्शन करके अपने आपको दिव्य जीवन लाभ से कृतकृत्य करो। परन्तु युधिष्ठिर के साग्रह अनुरोध पर इन्द्रादेशानुसार एक देवदूत उन्हें उस ओर ले चलता है जहाँ उनके भ्राता आदि होते हैं। वह मार्ग अत्यन्त दुर्गम, दुर्गन्धपूरित और अशुभ दृश्यो से भरा हुआ होता है—'पन्थानमशुभ दुर्गं दुर्गन्धमशिव लोमहर्षणम्'। उस वीभत्स मार्ग के मध्य मे से बहुत प्रकार के चिन्ता भावो से विचार करते हुए युधिष्ठिर आगे बढते हैं। उसी समय उन्हें द्रौपदी, भीम और अर्जुन का आर्तनाद एव करुण क्रन्दन सुनाई पडता है। वे करुण पुकार करने लगे—'भो भो धर्मज राजर्ष'—हे धर्मपुत्र ? भरत श्रेष्ठ ! हम पर अनुग्रह करके आप दो घडी तो यहाँ रुक जाइये। आपके आने मात्र से हमे इस घोर नरक की यातना भी सह्य और शीतल अनुभवगम्य हो रही है। कृपया आप कुछ रुक जाइये—'अनुग्रहार्थमस्मा क तिष्ठ तावन्मुहूर्तकम्' (तदेव, 18 2 32)।

यह सुनकर क्षोभ और ग्लानि से भरे युधिष्ठिर देवदूत को कहते हैं—'मेरे इन बान्धवो ने ऐसा कौनसा पाप किया है कि उन्हें नरक की यह दारुण यातना भोगनी पड रही है। तुम जाकर देवेन्द्र से कहो कि मैं यहा से वापस नही जाऊँगा। मैं यही रहूँगा। मेरे कारण ही तो मेरे भाई और द्रौपदी की यह दुर्गति हुई है। मैं इनके साथ यही रहूँगा।'

कुछ क्षण युधिष्ठिर वही खडे रह जाते है। तत्काल इन्द्रसहित धर्मराज वहा आते हैं। उनके आते ही वहां ओर प्रकाश छा जाता है, वीभत्स दृश्य तिरोहित हो जाते हैं, शीतल सुगन्धित बयार चलने लगती है। युधिष्ठिर को सम्बोधित करते हुए धर्मराज बोल पडते हैं—एषा तृतीया जिज्ञासा तव राजन् मया कृतम्—'हे, राजन। हमने तीसरी बार तुम्हारी परीक्षा ली है। अपने बान्धवो के लिए तुम नरक मे भी रहने के लिए तैयार हो। यह देखकर हमे बडी प्रसन्नता हुई है। पृथ्वी के राजाओ को नरक की यातना अवश्य देखनी चाहिए। इसी कारण तुम्हे कुछ ही क्षणो के लिए यह नरक भोगना पडा। प्रसिद्ध वीर अर्जुन, भीम, दृढव्रती कर्ण आदि तुम्हारे भाइयो मे से कोई भी नरक नहीं पहुँचा है। यह तो तुम्हारी परीक्षा के लिए रची गई माया है।'

व्याजेन हि त्वया द्रोण उपचीर्ण सुत प्रति।
व्याजेनैव ततो राजन् दर्शितो नरकस्तव॥ 18 3 15

'हे राजन् ! छद्मन से ही तुमने द्रोण के हृदय मे उसके पुत्र के प्रति मर जाने का भ्रान्त भाव फैलाया था। अत छद्मन और परोक्ष से ही तुम्हे इस नरक का

दशन कराया गया है।' वस्तुत यही देवलोक है, तुम दु खी न होना। अब तुम यही मेरे साथ विहार करो— 'विहारस्व मया सार्धं गतशोको निरामय'। यह देखो, पुण्य सलिला देवनदी आकाशगङ्गा है यहा ! इसके पवित्र जल मे स्नान कर लेने पर तुम्हारा मानव स्वभाव दूर हो जायेगा— 'अत्र स्नातस्य भावस्ते मानुषो विगमिष्यति' (18 3 29)।

धर्मदेव के ऐसा कहने पर राजर्षि युधिष्ठिर मुनिजनवन्दित परमपावन पुण्य सलिला आकाशगङ्गा मे स्नान करते हैं जिससे तत्काल उनका मानव शरीर छूट जाता है, उन्हे 'दिव्य वपु' प्राप्त होता है (18 3 42) और उनके स्वभाव में दि यता की स्थायी प्रतिष्ठा हो जाती है। तुरन्त वे दिव्यलोक मे प्रविष्ट हो जाते हैं। इस दृष्टान्त से स्पष्ट है कि युधिष्ठिर की तरह पुरुषाथ माग पर चलने वाला कोई भी धमनिष्ठ मानव श्रेष्ठ एव नरोत्तम भले ही बन जाये पर कही न कही कभी न कभी जीवन सघष के अति कठिन काल मे मानवीय दुबलता वश वह त्रुटि कर सकता है। नही तो दिव्यलोक मे प्रवेशाथ युधिष्ठिर को आकाश गगा म निमज्जन द्वारा 'दिव्य वपु' प्राप्ति की क्या आवश्यकता थी।

दिव्यलोक म प्रवेश करने पर युधिष्ठिर ब्रह्मरूप श्रीकृष्ण के दिव्यातिदिव्य चतुभुज रूप का दशन करते है— 'ददश तत्र गोविन्द ब्राह्मेणव पुषान्वितम्'(18 4 2)। वहीं अर्जुन मधुसूदन श्रीकृष्ण की आराधना मे सलग्न है, ऐसा युधिष्ठिर स्पष्ट देखते हैं। यह समपण माग की महिमा है ! नर नारायण रूप कौन्तेय और कृष्ण युधिष्ठिर का दिव्याभिनन्दन करते हैं। वही पर द्वादश आदित्यो के साथ तेजोमय रूप धारण किये हुए कण भी विराजमान है, मरुद्गणा से घिरे हुए कान्तिमान भीम वायुदेव की दि य सन्निधि म बैठे है, स्वतेज से उद्दीप्त नकुल और सहदेव अश्विनीकुमारा के समीप आसनस्थ हैं, पद्ममाला से अलङ्कृत दिव्य पाञ्चाली द्रौपदी भी सूयवत् प्रकाशित होती हुई वहाँ की शोभा का वधन कर रही है। वहाँ भीष्म वसुओ के साथ, द्रोणाचाय, बृहस्पति के साथ विराज रहे है। इस प्रकार युधिष्ठिर सभी बान्धवा, कृष्णा और कृष्ण के दि य दशन से मुग्ध आर प्रसन्न होत हैं।

जनमेजय की जिज्ञासा की भाँति, कोई भी यह प्रश्न उठा सकता है कि 'क्या युधिष्ठिर समेत पाण्डवा और द्रौपदी को वहाँ अ यय पद एव सनातन लाक की प्राप्ति हुई थी ? अथवा उस स्वग की जहाँ पुण्य क्षीण होने पर पुन मृत्युलोक मे आना पडता है ? — का ते गति प्राप्ता' ? यहाँ स्वय महर्षि वेदव्यास का यह वचन पर्याप्त एव मननीय है। उनका म त य है— 'कमणा मन्ते प्रविशन्ति स्मिका तनुम्'(18 5 11)अथात् वे सभी कमभोग के पश्चात्

अन्ततोगत्वा अपने मूल स्वरूप मे मिल गये है।

यह मानव की जय-यात्रा का पूर्ण स्वरूप है। भीष्मपर्व की अन्त पाती श्रीमद्भगवद्गीता म श्रीकृष्ण का परम वचन है—'ममैवाशो जीवलोके जीव भूत सनातन' (15 7), अर्थात्, यह जीव मेरा ही सनातन अश है जो इस लोक म अपने मन एव बुद्धि को फलाकाक्षी और विषयासक्त करके जगत् के जड पदार्थों के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करता हुआ जय से पराड्मुख और वञ्चित रहता है। परन्तु जो मनुष्य अपने मन और बुद्धि से केवल सत्य का वरण करने की दृढ धारणा से अपने जीवन मे विचार एव व्यवहार को सयोजित करता है, वह समय पडने पर अपने ही अन्दर निहित अनन्त सजन शीलता और पोषण की परिपूर्णता का साक्षात्कार कर लेता है। मनुष्य की यही अद्भुत शक्ति एव विलक्षणता है कि ज्यो ज्यो वह अपने भावा की सकीर्णता और विचारो की क्षुद्रता को हृदय की अथाह गहनता और विराट चिन्तन शीलता की बलिवेदी पर न्योछावर करने का सहज कौशल अर्जित करता जायेगा, त्यो त्यो वह जीवन को अविचल धैर्य, निश्छल क्षमा, सजग विवेक एव विमल वैराग्य से अभिषिक्त करता हुआ अपनी आत्मा के अखण्ड आलोक से तादात्म्य कर लेगा, अपने स्वरूप म प्रतिष्ठित हो जायेगा, और फलत मानवता के अक्षय स्रोत के रूप मे उसकी जीवनधारा प्रस्फुटित हो जायगी। उसका जीवन 'ईश्वर जीव अश अविनाशी चेतन, अमल, सहज सुख राशि' के ज्वलत उदाहरण के रूप मे व्यञ्जित होता रहेगा।

जैसे सागर का जल उसकी लहर से अभिन्न और तद्रूप है, उसी तरह नर और नारायण की अभिन्नता सहज सिद्ध है। अज्ञान के कारण ही नर अपने नारायणत्व का, अर्थात् अव्यय, अमल, चेतन, सच्चिदानन्द स्वरूप को, विस्मृत किये हुए है। नर मात्र नारायण का ही रूप है। इस स्वरूप सिद्धि मे ससार का मोह ही बाधक है, सत्यानुराग ही साधक तत्त्व है। यही महाभारत म मानव की जय यात्रा का सार है।

निस्सन्देह, नारायण प्रत्येक नर के भीतर की स्वभाव सिद्ध सभावना है।

इस सभावना की यथार्थ परिपूर्ति हेतु मानव का 'धनुर्धर' की तरह समर्पण बुद्धि से एकनिष्ठ एव सततोद्यमी होकर या 'धर्मराज' की तरह आनशस्यता के सर्वात्मभाव को पूर्ण पुरुषार्थ द्वारा नित्य स्व जीवन म चिन्तन और आचरण के प्रत्येक स्तर पर व्यञ्जित और पोषित करते हुए नारायण के अनन्त और अव्यय भाव म प्रतिष्ठित हो जाना है। यही नर का नारायण मे

उज्जीवन है, व्यास प्रणीत 'सत्यमेव जयते' का ध्वजारोहण है, मानव की जय यात्रा की अनन्त इतिश्री का रहस्योद्घाटन है।

यत्र योगेश्वरो कृष्ण यत्र पार्थो धनुधर ।
तत्र श्रीविजयोभूति र्ध्रुवानीतिर्मतिमम ।।

— ओमिति —